गीता
का
जीवन-दर्शन

डॉ॰ इन्द्रसेन

प्रकाशन केन्द्र, लखनऊ

गीता

का

जीवन-दर्शन

जीवन तू बन फूल समान

[सरल, स्वाभाविक, सहज]

लेखक

डॉ० इन्द्रसेन

श्री अरविंद आश्रम

पांडिचेरी

प्रकाशन केन्द्र

रेलवे क्रासिंग, सीतापुर रोड, लखनऊ—226 020

(फोन : 73035)

* प्रकाशक , **प्रकाशन केन्द्र,**

रेलवे क्रासिंग, सीतापुर रोड, लखनऊ—226 020

* मूल्य दस रुपये पचास पैसे (Rs. 10·50) मात्र ।

प्राक्कथन

गीता का जीवन-दर्शन शाश्वत एवं सार्वभौमिक है। इसकी उपयोगिता बीते हुए युगों में थी, वर्तमान युग में है और आने वाले युग में भी रहेगी।

गीता ही एक ऐसा ग्रन्थ है जिसने आध्यात्मिक अनुशीलन को सदा प्रेरित किया है। गीता में रुचि किसी एक धर्म विशेष अथवा सम्प्रदाय के लोगों की ही नहीं है। गीता उन सभी लोगों के लिए है **जो अपने को जानना चाहते हैं और पाना चाहते हैं**। यह स्मरणीय है कि अपने को जानना तथा पाना अत्यन्त कठिन है। इसके लिए सतत् साधना की आवश्यकता होती है। ज्ञान-भक्ति और कर्म सम्बन्धी योगों का प्रतिपादन गीता में इसी बात को ध्यान में रखकर किया गया है।

डॉ० इन्द्रसेन श्री अरविन्द के प्रिय शिष्यों में से एक हैं। श्री अरविन्द के पूर्ण योग की साधना का इन्हें व्यावहारिक अनुभव है। इनकी ख्याति एक दार्शनिक एवं मनीषी के रूप में सम्पूर्ण विश्व में है। फिर भी इनमें किसी प्रकार का अहंकार नहीं है। इनका जीवन अत्यन्त सरल एवं प्रेरणादायक है।

हमारे लिए यह सौभाग्य का विषय है कि डॉ० इन्द्रसेन ने गीता के जीवन दर्शन पर सरल एवं स्पष्ट रूप से प्रकाश डाला है। यह पुस्तक उन सभी लोगों के लिए उपयोगी होगी जो गीता में निहित जीवन-दर्शन को अपनाना चाहते हैं। हमें आशा है कि इस ग्रंथ का स्वागत सर्वत्र होगा और इसका अध्ययन करके जिज्ञासु अपने जीवन को सुख, शान्ति एवं आनंद से पूरित करेंगे।

(डॉ०) सीताराम जायसवाल

दीपावली
२५ अक्टूबर, १९७३

पुष्पानुक्रम

प	पृष्ठ संख्या
—सामान्य प्रवेश	१
—गीता का जीवन-दर्शन	८
—गीता की योग अथवा साधना-क्रम	१५
—गीता का मनोविज्ञान	२४
—गीता की तत्व मीमांसा	२६
—गीता का नीतिशास्त्र	३४
—गीता के विविध समन्वय	४०
—सत्व रज और तम तथा इनके अनुसार भोजन, सुख और ज्ञान के विविध स्वरूप	४४
—गीता की शिक्षा के विभिन्न स्वरूप, पुराने तथा नए	४६
—गीता और आधुनिक जीवन	५३
—श्री अरविन्द के कुछेक अपने शब्द	५६
२—गीता-साहित्य	६४
रिशिष्ट—गीता की निजी मौलिक अनुभूति और प्रेरणा तथा इसकी अन्य अनुभूतियाँ और दृष्टियाँ	६७

पुष्प १

सामान्य प्रवेश

अर्जुन युद्धक्षेत्र में उपस्थित है, दोनों पक्षों की सेनाएँ तैयार हैं, और उसे गंभीर शंका पैदा हो जाती है कि क्या मेरे लिये यह उचित है कि मैं इनको मारूँ ? जो सामने उपस्थित हैं, वे भाई-बंधु हैं, गुरु-आचार्य हैं। वह हथियार डाल देता है और श्रीकृष्ण से कहता है कि मैं नहीं जानता कि जीत क्या है और हार क्या है, क्या इस युद्ध में हार जाना ही जीत न होगा अथवा जीतना हार न होगा ? गुरुजनों तथा बंधु-बांधवों को मारना कहाँ उचित है ? फिर ऐसे संहार से भयानक सामाजिक ह्रास तथा उच्छृङ्खलता की स्थिति पैदा कर देना कैसा होगा ? मेरा मन इस युद्ध को बिल्कुल स्वीकार नहीं कर रहा और मुझे अपना कर्त्तव्य स्पष्ट दिखाई नहीं देता।[1]

---

१. **कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः**
पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढचेताः।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे
शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ।।२,७।।

दीनता रूपी दोष से मेरा वीरोचित क्षत्रिय स्वभाव नष्ट (अभीभूत) हो गया है, धर्म-अधर्म (कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य) के निर्णय करने में मेरी बुद्धि विमूढ़ हो गई है। इसलिये, मैं आपसे पूछता हूँ कि जो मेरे लिये श्रेयस्कर हो उसे निश्चित रूप से मुझे बतलाओ, मैं आपका शिष्य हूँ, आपकी शरण में आया हूँ, मुझे उपदेश दीजिये।

श्रीकृष्ण आश्चर्यचकित से तथा मीठी ताड़ना करते हुए उससे कहते हैं : कैसे विकट समय में तेरे अन्दर यह मोह तथा भीरु-भाव पैदा हो गया। तू क्षत्रिय है, अपना क्षत्रिय का काम कर। आत्मा तो अमर है, तेरा यह निरा अभिमान है कि मैं इन्हें मार दूंगा। ज्ञानी आदमी मरने-जीने की चिंता नहीं करता, वह इंद्रिय-जन्य सुख-दुःख को सहन करता है और अपने कर्त्तव्य-कर्म को करता है। 'स्थितधीः', स्थिर बुद्धि वाला पुरुष अनासक्त भाव से अपने कर्म को करता है, फल की चिंता नहीं करता और वह परम शांति को प्राप्त करता है।

कर्ममार्ग और ज्ञानमार्ग की फिर वे विशेष व्याख्या करते हैं। कर्म न त्यागा जा सकता है न इसे त्यागना आवश्यक ही है। इसे यज्ञ रूप करने से, आत्म-निवेदन के रूप में, मनुष्य इसमें लिप्त नहीं होता और जीवन की परम सिद्धि को प्राप्त करता है।[1] त्याग करने की आवश्यकता है इच्छा की जो मनुष्य में लिप्तता पैदा करती है, व्यग्रता लाती है और शांति को खंडित करती है। सच्चा संन्यास कर्म का त्याग नहीं बल्कि उन वृत्तियों का त्याग है जो बंधन और लिप्तता का कारण

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ॥२,३८॥

सुख और दुःख को, लाभ और हानि को, जय और पराजय को समान समझ कर फिर युद्ध में प्रवृत्त हो, ऐसा करने से तुझे पाप नहीं लगेगा।

१. **यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।**
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर ॥३, ६॥

यज्ञ के लिये किये जाने वाले कर्म से भिन्न प्रकार से जो कर्म किये जाते हैं उनसे मनुष्यों का यह लोक (मनुष्य) कर्मों से बद्ध होता है, अतः हे कुंती-पुत्र अर्जुन ! अनासक्त होकर यज्ञ के लिये (यज्ञ की भावना से) कर्म कर।

बनती है ।[1] कर्म किया जाना चाहिये अनासक्त आंतर चेतना से, कर्त्तव्य-कर्म के भाव में अथवा लोकसंग्रह के लिये और जगत्-स्रष्टा तथा जगत्-अधिष्ठातृ सार्वभौम और सर्वोपरि चेतना-रूप पुरुषोत्तम के प्रति यज्ञ और आत्मनिवेदन के भाव में । इस प्रकार ज्ञानमार्ग और कर्ममार्ग में गीता अद्‌भुत समन्वय प्रस्तुत कर देती है । इतना ही नहीं कि कर्म ऐसे विशाल ज्ञान से युक्त हो, अपितु वह भावना-पूर्वक भी किया जाना चाहिये; वह हित, प्रेम और भक्ति की सजीव भाव-भावना से युक्त होना चाहिये । भावना-रहित कर्म निर्जीव कर्म है । इस प्रकार गीता ज्ञान, कर्म और भक्ति तीनों का समन्वय उपस्थित करती है जो कि जीवन के पथ-प्रदर्शन और विकास के लिये अत्यन्त महत्वपूर्ण देन है ।

इन सब प्रसंगों के साथ-साथ श्रीकृष्ण और भी अनेक विषयों की बड़े सरस ढंग से व्याख्या करते हैं और अर्जुन का समाधान करने की कोशिश करते हैं । वे अर्जुन को बतलाते हैं कि मनुष्य मन को कैसे वश में लाये, इंद्रियों को कैसे जीते, साधना-अभ्यास कैसे करे, तथा मनुष्य की प्रकृति क्या है, सत्व, रज, तम गुण कैसे जगत् के कार्य को निर्धारित करते हैं, मनुष्य का अहं क्या है, अहं को कैसे छोड़ा जाये, आत्मा कैसे उपलब्ध की जाये । ब्रह्म क्या है और उसका स्वरूप क्या है ? इस प्रकार मानव, जगत् और ईश्वर सत्ता के सभी तत्त्वों का खूब विवेचन होता है । परन्तु अर्जुन की तृप्ति नहीं होती । उसकी जिज्ञासा जगत् और सत्ता के केन्द्रीय तत्व ईश्वर को जानने की और भी प्रबल हो उठती है । और वह श्रीकृष्ण से कहता है कि हो सके तो वे उसे अपने दिव्य-भाव के दर्शन करायें । तब श्रीकृष्ण उसे वह अनुभव प्रदान करते हैं और

---

१. ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न कांक्षति ।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते ॥५,३॥

हे बड़ी भुजाओं वाले अर्जुन ! जो मनुष्य द्वेष नहीं करता और कामना नहीं करता उसे (कर्म करते हुए भी) सदा संन्यासी जानना चाहिये; क्योंकि द्वंद्वरहित होने के कारण वह बंधन से सरलता के साथ और सुख पूर्वक मुक्त हो जाता है ।

अर्जुन पूर्णतया शंकारहित होकर कर्त्तव्य-कर्म के लिये उद्यत हो जाता है। अन्त में उपसंहार रूप में इसे गुह्य-से-गुह्य रहस्य कह कर श्रीकृष्ण उससे कहते हैं, तू अन्य सभी कर्त्तव्य के मानदंडों का त्याग करके एक मात्र सर्वोपरि पुरुषोत्तम-भाव को अंगीकार कर और उसकी प्रेरणा से कर्म कर।[1]

यह कर्म दिव्य-कर्म है, सर्वथा अनासक्त और पूर्णतया स्वतंत्र तथा व्यक्ति और समष्टि के लिये परम रूप में कल्याणकारी। सामान्य कर्त्तव्य-मानदंड सब सापेक्ष हैं, यह एक निरपेक्ष मानदंड है। सापेक्ष मानदंड ससीम परिणाम के उत्पादक होते हैं और निरपेक्ष मानदंड असीम प्रभाव और परिणाम का उत्पादक होता है।

अर्जुन तृप्त हो जाता है। श्रीकृष्ण कहते हैं, 'क्यों तेरा समाधान हुआ कि नहीं ?' अर्जुन श्रद्धा और प्रेम तथा अत्यंत कृतज्ञता के भाव में कहता है 'क्यों

---

१. सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम् ॥१८, ६४॥

और भी मेरे समस्त गुह्यों में गुह्यतम परम वचन को सुन; तू मेरा अत्यन्त प्रिय और चुना हुआ अंतरात्मा (जीव) है, इस कारण तेरे लिये जो उच्चतम कल्याणकारी है उसे कहता हूँ।

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥१८, ६५॥

मेरे मन वाला (मुझमें मन लगाने वाला), मेरी भक्ति करने वाला, मेरे लिये यज्ञ करने वाला हो, मुझे ही नमस्कार कर; ऐसा करने से तू निश्चय ही मुझे प्राप्त होगा, यह मैं तुझे सच्ची प्रतिज्ञा के साथ कहता हूँ, कारण, तू मेरा प्रिय है।

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥१८, ६६॥

समस्त धर्मों का परित्याग करके एक मात्र मेरी शरण ग्रहण कर, मैं तुझे समस्त पापों से मुक्त कर दूंगा, शोक न कर।

नहीं हुआ !' और अपने कर्त्तव्य को अनुभव करते हुए युद्ध के लिये वह तैयार हो जाता है, उसके शंका, मोह, शोक सब दूर हो जाते हैं।

गीता काफी प्राचीन ग्रंथ है। संभवत: वेदव्यास मुनि ने इसे लेखबद्ध लगभग छठी शताब्दी ईसापूर्व किया था। श्रीकृष्ण ने यह शिक्षा महाभारत के युद्ध के अवसर पर अर्जुन को दी। जो वस्तु जितनी पुरानी हो जाती है उसके संबंध में बाह्य स्थूल प्रमाण स्वभावत: कम हो जाते हैं और तार्किक बुद्धि अनेक शंकाएँ करने लगती है।

परंतु गीता ग्रंथ हमारे सामने उपस्थित है। श्रीकृष्ण गुरु के रूप में तथा अर्जुन शिष्य के रूप में अत्यंत सजीव भाव में हमें अनुभव होते हैं। श्रीकृष्ण अत्यंत कृपालु तथा अनथक शिक्षक हैं, अर्जुन को बार-बार अनेक विधियों से बड़े प्रेम और हित के भाव में जीवन और जगत् के समूचे सत्य-असत्य को समझाते ही नहीं अपितु उसे हृदयंगम करवा देते हैं। अर्जुन बड़ा सुन्दर जिज्ञासु है। जब उसका मन युद्ध को अस्वीकार कर देता है तब भी उसे श्रीकृष्ण में श्रद्धा है और उनसे पथ-प्रदर्शन की जिज्ञासा करता है। उसमें जिज्ञासा है, नम्रता है और अध्यवसाय है।

फिर जो अर्जुन की मूल कठिनाई है तथा उसके साथ अनेक प्रश्न हैं तथा श्रीकृष्ण के जो समाधान हैं उन सबसे हमारी चेतना सहानुभूति अनुभव करती है। वर्तमान समय में भारतीय पुनर्जागरण के नेताओं—बंकिमचंद्र चटर्जी, बाल गंगाधर तिलक, महात्मा गांधी, श्री अरविंद आदि ने प्रधान रूप में गीता को ही अपना पथ-प्रदर्शक अनुभव किया और जीवन के हर प्रश्न के लिये इससे उत्तर चाहा और उपलब्ध भी किया। सामान्य जनता भी व्यापक रूप से इसके प्रति ही विशेष आस्थावान है।

क्या यह सब, अर्थात्, गीता का उपस्थित स्वरूप, इसके गुरु, इसके शिष्य तथा इसकी शिक्षा हमारे संतोष के लिये पर्याप्त नहीं है ? वैसे इस प्रकार की जो भी शंकाएँ उपस्थित की जाएँ कि महाभारत का युद्ध हुआ था कि नहीं, श्रीकृष्ण भी कोई थे या नहीं अथवा युद्ध के समय इतनी सब शिक्षा कैसे दी जा

सकती है, इत्यादि, इत्यादि, वे सब उपर्युक्त स्वरूप में कोई विघ्न नहीं डालतीं; और ज्ञान के जिज्ञासु को तो भावात्मक वृत्ति के द्वारा ही अपनी जिज्ञासा का अनुसरण करना चाहिये, न कि नकारात्मक भाव का आश्रय ले कर। भावात्मक वृत्ति से ज्ञान की उपलब्धि होती है और वह ज्ञान स्वतः धीरे-धीरे निश्चयता का संपादन करता है और शंकाओं का उत्तरोत्तर निवारण करता जाता है।

फिर यह भी याद रखना होगा कि गीता-ज्ञान का वास्तविक स्वरूप क्या है ? इसका प्रश्न व्यवहार में से पैदा होता है और यह व्यवहार के संबंध का है। अर्जुन अपनी प्रकृति से भी कर्मठ व्यक्ति है। वह दार्शनिक नहीं और न ही वह कोई दर्शन का प्रश्न ले कर चलता है। वह अपने अधिकारों से प्रेरित हो, न्याय-अन्याय के विचार से युद्ध के लिये तैयार होता है। परन्तु युद्ध में बंधु-बांधवों को देखकर उसमें मोह-भाव तीव्र हो उठता है कि मैं इन्हें, बंधुओं और गुरुजनों को, कैसे मारूँ ? उसके हाथ-पाँव काँपने लगते हैं और वह हथियार डाल देता है और श्रीकृष्ण से जिज्ञासा करता है कि मेरी बुद्धि भ्रमित हो गई है, मुझे अपना कर्त्तव्य नहीं सूझता।

इस प्रश्न के उत्तरोत्तर समाधान में जीवन और जगत् के आधारभूत तत्व सब आ जाते हैं, क्योंकि उनके बिना किसी भी प्रश्न का हार्दिक समाधान नहीं होगा। परन्तु गीता जीवन के व्यवहार की कठिनाई को लेकर चलती है और उस कठिनाई का पूरा समाधान कर देने पर समाप्त हो जाती है। यह अपने स्वरूप में ऐसा दर्शन का ग्रंथ नहीं जिसका उद्देश्य सत्ता के स्वरूप का विवेचन हो।

फिर इसका प्रधान बल अनुभव पर है। यह उत्तरोत्तर अनुभव-विकास को प्रेरित करती है और अनुभव का प्रत्युत्तर पा कर ही संतोष मानती है। यह है ही साधना का ग्रंथ। प्रत्येक अध्याय एक प्रकार का योग है। हर अध्याय के अंत में समाप्ति को इंगित करते हुए एक वाक्य है जो यह कहता है कि यहाँ

इस नाम का योग समाप्त हुआ। पहले अध्याय के अंत में है, 'यहाँ अर्जुन-विषाद-योग समाप्त हुआ।'

श्री अरविंद ने विषय रूप से, अपने अलीपुर जेल के कारावास में, अपनी साधना इसके आधार पर शुरू की, वे उत्तरोत्तर इसके कथित सत्यों को चरितार्थ अथवा अनुभव-सिद्ध करते चले गये। उन्होंने इसे आध्यात्मिक भाव में उपलब्ध किया, जो उनके लिये समग्र भाव में, व्यवहार के लिये तथा दर्शन के लिये, आधार बना। और यह आधार उन्हें समूचे मानव जीवन के भावी नव-निर्माण के लिये भी अत्यंत उपयोगी लगा।

गीता को ठीक प्रकार से उपलब्ध करने के लिये इसके प्रति अपने मनोभाव को खूब सजग रूप से सुसंगठित करना अत्यंत आवश्यक है। क्रियात्मक भाव में, कर्त्तव्य के निर्णय की सजीव भावना को ले कर इसकी जिज्ञासा शुरू होनी चाहिये, साधक रूप में इसके सत्यों का अनुशीलन होना चाहिये और तब जो जीवन-दर्शन तथा सत्ता-शास्त्र उपलब्ध होंगे वे भी सर्वथा सक्रिय होंगे, वे जीवन को अद्भुत रूप से अनुप्राणित करने वाले होंगे।

●

पुष्प २

गीता का जीवन-दर्शन

(PHILOSOPHY OF LIFE)

आधुनिक पाश्चात्य दर्शन में जीवन-दर्शन एक सुन्दर परिभाषा है। किसी भी दर्शन, अर्थात्, सत्ता-विषयक एक विचार क्रम के बारे में हमें जिज्ञासा हो सकती है कि इसका जीवन-दर्शन क्या है? इसका अर्थ यह है कि मानव जीवन की दृष्टि से इसका स्वरूप क्या होगा? थोड़ा और विस्तार से हम यूँ कह सकते हैं कि इस सत्ता-शास्त्र के अनुसार मानव जीवन का उद्देश्य क्या है, वह कैसे पूरा होगा? जीवन का वर्तमान स्वरूप क्या है? यह उद्देश्य इसकी अपूर्णताएँ कैसे पूरी कर देगा? सत्ता की संगति हमारे वर्तमान, स्वरूप तथा पूर्ण स्वरूप के साथ कैसी है? व्यक्ति और समाज का यथार्थ सम्बन्ध क्या है? हमारा समग्र जीवन-व्यक्तिगत, सामाजिक, राजनीतिक अथवा व्यावहारिक और पारमार्थिक-कैसे प्रेरित और संचालित होना चाहिये? ये सबके सब मिल कर जीवन-दर्शन को गठित करते हैं। और प्रत्यक्ष ही व्यक्ति के लिए यह विशेष महत्व का प्रसंग है। पश्चिम में अथवा इधर भी ऐसा दार्शनिक चिंतन बहुत हुआ है जो शुष्क बुद्धिवादी है, जो जीवन को स्पर्श नहीं करता; जीवन का शोधन, परिवर्द्धन, उसकी परितृप्ति मानो उसका विषय ही नहीं।

पाश्चात्य ज्ञान और भारतीय ज्ञान के समग्र स्वरूपों में कुछ अंतर है। पाश्चात्य ज्ञान का अधार अरस्तू (Aristotle) ने रखा था। और वह प्रेरित था भेदात्मक बुद्धि (analytical intellect) से। विश्लेषण इस सारी जिज्ञासा

का प्रधान बल रहा है। फलस्वरूप ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र अलग निर्धारित होते गये और होते जा रहे हैं, नये-नये प्रश्न और पक्ष अपेक्षाकृत स्वतन्त्र रूप धारण कर रहे हैं।

इसके विपरीत, भारतीय जिज्ञासा का प्रधान बल था समग्रता के भाव पर अर्थात् वस्तुओं और सत्ता के संयुक्त एवं संगठित रूप पर। विद्याएँ और कलाएँ अलग-अलग होते हुए भी उन्हें सदा सत्ता के समग्र भाव में प्रतिष्ठित करना अनिवार्य होता था। विश्लेषण को संश्लेषण के भाव में रखना आवश्यक होता था। नाट्य कला हो, व्याकरण हो, आयुर्वेद हो, ये अपने-अपने क्षेत्र में खूब विश्लेषणात्मक भाव में विषय का प्रतिपादन करेंगे, परन्तु समग्र और सत्ता की दृष्टि भी बनाये रखने का यत्न करेंगे। परन्तु पश्चिमी विज्ञान, दृष्टांत के लिए भौतिक-शास्त्र जड़ तत्व को अपना विषय मान कर चलेगा और साथ ही यह मान्यता भी रहेगी कि मानों यही सब कुछ है। किन्तु अब पश्चिमी ज्ञान में कुछ समय से संश्लेषणात्मक वृत्ति उत्तरोत्तर बलवती होती दिखाई देती है।

भारतीय और पश्चिमी ज्ञान शैलियों के अपने-अपने सबल पक्ष हैं और इनका समन्वय एक अधिक समृद्ध तथा समर्थ शैली का सृजन कर सकता है।

दर्शन के क्षेत्र में पश्चिम का विषय-विभाजन सुन्दर और उपयोगी लगता है परन्तु साथ ही यह भी ठीक है कि नीतिशास्त्र, मनोविज्ञान, सौंदर्यशास्त्र, समाजशास्त्र तथा जगत् और ब्रह्म सब घनिष्ठ रूप में एक दूसरे से सम्बद्ध हैं। इन्हें अत्यधिक स्वतन्त्र बना देने से कुछ सरलता तो हो जाती है परन्तु विषय की जिज्ञासा की तृप्ति भी सीमित हो जाती है। पश्चिमी मनोविज्ञान कहता है कि मुझे केवल मानसिक व्यापारों से ही प्रयोजन है। परन्तु मानसिक व्यापार अपने अनेक प्रश्नों का समाधान व्यापारों द्वारा ही नहीं कर पाते।

यह क्या वास्तव में इसी बात का परिणाम नहीं है कि मनोविज्ञान ने अपनी प्रारम्भिक मान्यता में अपने आपको मानसिक व्यापारों तक सीमित कर दिया ?

गीता का विचार समग्र और समूर्त जीवन की भावना में विकसित होता है। इसमें मनोविज्ञान, नीतिशास्त्र, सत्ताशास्त्र आदि अलग-अलग नहीं है। परन्तु यहाँ हम पश्चिमी शैली के अनुसार इन प्रसंगों को अलग-अलग करके देखना चाहते हैं। दोनों की सार्थकता को हमें अनुभव कर सकना चाहिये।

पहला प्रश्न जो हमने उठाया है वह है गीता के जीवन दर्शन का। गीता वस्तुतः है ही जीवन-दर्शन का ग्रन्थ। जीवन इसके लिए केन्द्रीय तथ्य है।[१] उसकी सार्थकता और परितृप्ति ही इसका उद्देश्य है।[२] शुष्क बौद्धिक विश्लेषण या चिंतन इसको कहीं भी अभीष्ट नहीं। सत्ता के परम स्वरूपों का भी जो इसका निरूपण है वह अत्यन्त सजीव है और जीवन से सम्बद्ध है।

गीता अध्ययन से स्पष्ट ही अनुभव होता है कि उस समय, जब गीता की शिक्षा मूल रूप में प्रतिपादित हुई, अनेक आध्यात्मिक अनुभव तथा चिंतन की धाराएँ मौजूद थीं और उनमें बहुत विभिन्नता थी। मानो यह उस समय की माँग थी कि उन विभिन्नताओं का समाधान रूप कोई विस्तीर्णतर तथा महत्तर अनुभव उपलब्ध होना चाहिये जो उन सब में उचित समन्वय कर सके। गीता

---

१. **क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते।**
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप॥ २, ३॥

हे प्रथापुत्र अर्जुन ! नपुंसकता को मत प्राप्त हो, यह तेरे लिये उपयुक्त नहीं है। हे शत्रुओं का दमन करने वाले (दमन करने में समर्थ अर्जुन) अपने हृदय की इस तुच्छ दुर्बलता का परित्याग करके (युद्ध के लिए) खड़ा हो।

२. **मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।**
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥ १८, ६५॥

मेरे मन वाला (मुझमें मन लगाने वाला), मेरी भक्ति करने वाला, मेरे लिये यज्ञ करने वाला हो, मुझे नमस्कार कर; ऐसा करने से तू निश्चय ही मुझे प्राप्त होगा यह मैं तुझसे सच्ची प्रतिज्ञा के साथ कहता हूँ, कारण तू मेरा प्रिय है।

ने वस्तुतः यही किया । इसने सभी वर्तमान प्रवृत्तियों की सार्थकता को स्वीकार किया और उन्हें एक विशालतर दृष्टि में समन्वित किया । इसने यह सफल रूप में प्रतिपादित किया कि मानव, जगत् में रहते हुए, सब कर्मों को करते हुए शांति, ज्ञान, भक्ति, आनन्द को प्राप्त कर सकता है । वस्तुतः सामान्य मानव प्रकृति के लिये इन उद्देश्यों को प्राप्त करने का यह कर्म का मार्ग ही अधिक स्वाभाविक और सुगम है ।

कर्म के बारे में उस समय विशेष आपत्ति अनुभव की जाती है । इसमें संदेह भी नहीं कि कर्म सामान्य रूप में मानव को परिस्थिति के साथ बाँध देता है । मानव अनेक वस्तुओं को चाहता है, उनका संग्रह करता है, उनके विषय में अनेक विधि चिंता करता है, उनकी हानि से उसे भय होता है, परिणाम विक्षिप्तता, मोह और दुःख होते हैं । इस प्रकार के जीवन-यापन में सहज आन्तरिक शान्ति और सुख अनुभव नहीं होते । कर्म के इस सामान्य स्वरूप को असाध्य मानकर उस समय की प्रबल आध्यात्मिक तथा दार्शनिक दृष्टि यह थी कि कर्म का त्याग करना चाहिये अथवा जो अनिवार्य हैं वही करने चाहिये अथवा केवल अग्निहोत्र, पूजा आदि के कर्म ही करने चाहिए; कर्म वैसे है ही अज्ञान का क्षेत्र, मोह का क्षेत्र ।[1]

ठीक कर्म के बारे में ही गीता ने यह प्रतिपादित किया कि कर्म ज्ञान तथा भक्ति दोनों के साथ संगत ही नहीं उनका पोषक भी है तथा कर्म के बिना ज्ञान और भक्ति अपूर्ण हैं । फिर यह भी कि केवल कुछ ही कर्म ऐसे नहीं हैं बल्कि

---

१. **भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयाऽपहृतचेतसाम् ।**
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते ।। २,४४ ।।

इस वाणी के द्वारा जिनका चित हरा गया (अर्थात् मन आकर्षित या भ्रांत कर दिया गया) है और जो भोग और ऐश्वर्य में आसक्त हैं उनकी बुद्धि आत्मा, ब्रह्म को लक्ष्य बनाने का निश्चय करने वाली नहीं होती और उस आत्मतत्व में दृढ़ स्थिर, एकाग्र रहने वाली नहीं होती ।

सभी कर्म ऐसे हो सकते हैं। और यह भी कि जैसे ज्ञान और भक्ति जीवन के परम उद्देश्य मुक्त-भाव, अमरता, आत्यंतिक दुःख निवृत्ति और सतत् आनंदोपलब्धि के मार्ग हैं वैसे ही कर्म भी पूर्ण रूप में सफल मार्ग हैं। इससे भी और बढ़कर यह कि सामान्य मानव-प्रकृति कर्म-प्रवृत्त है, अतः कर्म का मार्ग अधिक विस्तीर्ण है।

परन्तु कर्म होना चाहिये सर्वहित के लिये तथा भगवान् के लिये अनासक्त, निस्वार्थ भाव में भक्तिपूर्वक किया गया विशाल कर्म, न कि अहंमूलक संग्रह-भाव का कर्म अथवा आग्रह और आसक्तिपूर्वक अपने लिये किया गया कर्म। ऐसा कर्म बंधन नहीं करता, बल्कि अपने आप में सुन्दर एकाग्रता तथा प्रेमभाव को उत्पन्न करता है। और सभी कर्म, छोटे-बड़े इस मनोभाव से किये जा सकते हैं। अतः सभी कर्म भगवद्भक्ति तथा ब्रह्म प्राप्ति का साधन बन सकते हैं।

कितना सुन्दर तथा ओजस्वी है यह जीवन-दर्शन का संदेश !

गीता इस दर्शन की मर्यादा के एक-एक अंग को लेकर विशद विवेचन द्वारा प्रतिष्ठित करती है। पहले कर्म यज्ञ रूप होना चाहिये। उस समय यज्ञ का सामान्य अर्थ था अग्निहोत्र का कर्म, जिसमें प्रधान वृत्ति प्रज्ज्वलित अग्नि में घी आदि की आहुति बार-बार देनी थी। गीता ने जीवन मात्र को यज्ञ रूप बनाने का आदेश दिया। इसकी आन्तरिक वृत्तियाँ तथा बाह्य कर्म सब के सब, व्यवहारिक ज्ञान तथा भक्ति सम्बन्धी यज्ञ-रूप, अर्थात्, आहुति-रूप होने चाहिये।[1] वे स्वार्थ के, संग्रह भाव में, अपने लिये किये गये कर्म नहीं होने चाहिये। वे किये जाने चाहिये उदारभाव में सर्वहित के लिये, लोकसंग्रह (पृथ्वी मात्र के

---

१. यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥ ९, २७ ॥

हे कुन्ती पुत्र अर्जुन ! तू जो कुछ करता है, जो भोजन खाता है, जो यज्ञ करता है, जो कुछ दान करता है, जो तप करता है उसे मेरे अर्पण कर।

सामूहिक जीवन के विकास) के लिये तथा भगवान् के लिये । ज्ञान का अनुशीलन ज्ञान-यज्ञ[1] के रूप में होना चाहिये । अर्थात्, ज्ञान को हम अहंपूर्वक उपार्जित, अर्थात्, संगृहीत करने का यत्न न करें, बल्कि सत्य के प्रति अपने आपको अधिकाधिक अर्पित करने के भाव में करें । यह वृत्ति अपने आप में एक विशाल और विस्तीर्ण भाव को पैदा करती है जो सार्वभौम भाव के लिये उपयुक्त है तथा यह अभिमान को पैदा नहीं करेगी ।

हमारी सामान्य प्रकृति अहंमूलक है । इसके सामान्यतया सभी कर्म अहंप्रेरित होते हैं । इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि सभी अहं भाव से ओत-प्रोत हैं । और ये चारों तत्व इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि और अहंकार सत्व, रज और तम से, जो कि वैश्व प्रकृति के मूल गुण-रूपी तत्व हैं, गठित है । किसी में इनमें से कोई एक प्रधान होता है, किसी में कोई अन्य । उसी से उस व्यक्ति का सामान्य स्वभाव गठित होता है । तामसिक व्यक्ति मंद होता है, राजसिक संघर्षशील तथा संग्रहशील होता है, सात्विक ज्ञान, शांति, समस्वरता की जिज्ञासा वाला । वैश्व प्रकृति प्रधानतः जड़ तत्व की वस्तु है । गतिशीलता उसका दूसरा तत्व है, संतुलन और समस्वरता तीसरा । ये तीन प्रधान स्वरूप अथवा गुण हैं प्रकृति के । मानव ही प्रकृति का एक अंग है । इसका अहं भाव एक व्यष्टि का सृजन करता है, अन्य सब वस्तुओं से अपने आपको अलग करके । यह मानव में व्यक्तित्व भाव लाता है और यही इसके जीवन का मुख्य प्रश्न बन जाता है, क्योंकि यही चिंता, भय और दुःख का जनक है । यही इसके अंदर अलग व्यक्तित्व के अलग कर्त्तापन का भाव भी पैदा करता है ।

---

१. श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परंतप ।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ॥ ४,३३॥

हे शत्रुतापी अर्जुन ! घृतादि द्रव्य से अनुष्ठित होने वाले यज्ञ की अपेक्षा ज्ञान यज्ञ श्रेष्ठ होता है; हे पृथा पुत्र अर्जुन ! सम्पूर्ण कर्म अपनी समग्रता के साथ ज्ञान में परिसमाप्त होता है ।

परन्तु यह अलग एक वस्तु होना और स्वतन्त्र कर्त्ता होना दोनों के दोनों असत्य हैं क्योंकि वैश्व प्रकृति समूची एक वस्तु है, उसका एक स्वभाव है, और वही स्वभाव अनेक व्यष्टियों में कुछ व्यष्टियाँ लिये हुए प्रतिलक्षित हो रहा है।[1]

मानव जीवन की गहरी जिज्ञासा है पूर्ण ज्ञान की, पूर्ण आनन्द की, शक्ति-मत्ता की, अमरता की। हम रोग, जरा, मृत्यु से भय खाते हैं, अज्ञान दूर करना चाहते हैं, अशक्तता हटाना चाहते हैं। हर दृष्टि से पूर्ण जीवन की जिज्ञासा करते हैं। मानव का सारा इतिहास इस जिज्ञासा को प्रमाणित करता है। अतः मानव जीवन का मौलिक प्रश्न है वर्तमान जीवन की अपूर्णताओं को अतिक्रांत करना तथा पूर्णत्व को प्राप्त करना, ऐसे पूर्णत्व को जिसमें हमारे अपूर्ण ज्ञान, भाव-भावनाएँ तथा कर्तृत्व अपने सर्वोच्च तथा तृप्त भाव को प्राप्त हों।

अब यह हो तो कैसे हो ? गीता का उत्तर है कि साधारण प्रकृति अचेतन तथा अर्धचेतन भाव में अपने वैश्व व्यवहार को गुणों की मर्यादा के अनुसार चला रही है। मानव अपने सामान्य स्वरूप में प्रकृति की उपज है तथा इसका व्यवहार भी उसी प्रकृति का व्यवहार है। इससे अपने आपको अलग करके व्यक्ति अपने अन्दर अपने वास्तविक व्यष्टि-भाव को अनुभव कर सकता है। वह व्यष्टिभाव सर्वथा चेतन है तथा आनन्दपूर्ण है। वही व्यक्ति का सच्चा 'जीव' रूप है। इसी प्रकार जगत् में भी जगत् के तलीय व्यवहार के परे एक बृहद्, वैश्व तथा विश्वातीत, सर्वचेतन, सर्वशक्तिमान तथा आनन्दमय सत्ता है। यह जीव उसी का अंश है। उस सर्वचेतन सत्ता की एक अपनी सर्वचेतन प्रकृति भी है और उसी प्रकृति द्वारा उस परम सत्ता ने इस त्रिगुणमयी प्रकृति का सृजन

---

१. **प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।**
अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते॥३,२७॥

कर्म पूर्णतया प्रकृति के गुणों के द्वारा किये जाते हैं; जिसका मन अहंकार में मूढ़ हो गया है वह मानता है कि मैं ही उनका करने वाला हूँ।

किया है। यह प्रकृति उसी पर आधारित है, और उसी की ओर इंगित करती है।

अहंमय मानव व्यक्ति अपने अहंपूर्ण प्रकृति भाग से अपने को अलग करके अपने अन्दर के आत्मतत्व को उपलब्ध कर सकता है तथा सर्वचेतन परम सत्ता के साथ युक्त हो सकता है। वह युक्तभाव ही उसे पूर्णत्व प्रदान करता है। उस युक्तभाव का कर्म पूर्ण कर्म है। यह कर्म वैश्व तथा विश्वातीत परम सत्ता से प्रेरित होने के कारण अद्भुत रूप में सर्वहित तथा लोकसंग्रह का पोषक होगा। यह सामान्य स्वार्थमय जीवन के लिये अपूर्व दृष्टांत होगा तथा जीवन के उत्थान के लिये महान् प्रेरक।

यह है संक्षेप में गीता का जीवन-दर्शन।

●

पुष्प ३

गीता का योग अथवा साधना-क्रम

भारतीय इतिहास में जीवन तथा सत्ता का आध्यात्मिक भाव विशेष जिज्ञासा तथा अनुसन्धान का विषय रहा है। आध्यात्मिक सत्ता ही सार सत्ता है तथा आधारभूत सत्ता है। उसकी जिज्ञासा तथा उसकी उपलब्धि के उपाय साथ-साथ चलते रहे हैं। जितने दर्शन हैं लगभग उतनी ही योग शैलियाँ हैं। हठयोग, राजयोग, ज्ञानयोग, भक्ति योग, कर्मयोग, तन्त्रयोग योग-शैलियों में कुछ प्रसिद्ध नाम हैं। पतंजलि ऋषि का राजयोग या अष्टांग योग विशेष क्रमबद्ध तथा प्रसिद्ध योग-मार्ग है।

गीता का योग प्रधान रूप में मनोवैज्ञानिक है। यह किसी नियमित क्रम और अभ्यास का प्रतिपादन नहीं करता, बल्कि व्यक्तित्व के आध्यात्मिक विकास की विस्तीर्ण रूपरेखा प्रस्तुत करता है जिसके पथ-प्रदर्शन में व्यक्ति अपनी प्रकृति, स्वभाव तथा रुचि के अनुसार अनेक-विध उचित वृत्तियों का अनुशीलन कर सकता है। और ऐसा करते हुए वह धीरे-धीरे आध्यात्मिक भाव को उपलब्ध कर सकता है। गीता-योग अन्य योग शैलियों से अनेक अंगों को भी बड़ी उदारता से अंगीकार करता है। गीता का समन्वय-भाव साधना के क्षेत्र में भी स्पष्ट अनुभव में आता है। सामान्य रूप से मानव की वृत्तियाँ बहिर्मुख होती हैं, अर्थात् वे बाह्य विषयों में बिखरी होती हैं। उन्हीं विषयों में लिप्त होती हैं, अर्थात्, उन्हें ही वे सब कुछ मानती हैं और आग्रहपूर्वक उन्हें ही प्राप्त तथा संगृहीत करना चाहती हैं। ये विषय तथा ये वृत्तियाँ अत्यन्त विभिन्न तथा परस्पर विरोधी भी होती हैं। उनमें कोई समन्वय-भाव नहीं होता।

स्वभावगत ऐसी वृत्तियों को एकाग्रता के भाव में लाना तथा सत्य में, अर्थात्, सद्वस्तु रूप आत्म-तत्व में प्रतिष्ठित करना ही सामान्य रूप में सब योग शैलियों का उद्देश्य हैं।

गीता-योग का उद्देश्य विशेष रूप से वह है कि व्यक्ति परम सत्ता रूप पुरुषोत्तम के साथ सर्वाङ्ग रूप में युक्त होकर उसके ज्ञान, उसकी भाव-भावना तथा उसी की चित्त-शक्ति से प्रेरित होकर सर्वहित के लिए रहे-सहे। उसी अवस्था को गीता ने जीवन-मुक्त की अवस्था कहा है तथा उसी अवस्था के कर्म को मुक्त-पुरुष का कर्म कहा है।

इस अवस्था को प्राप्त करने के लिए गीता अनेक साधना-क्रमों का निर्देश देती है जो व्यक्ति की विकास-स्थिति तथा स्वाभाविक रुचि के अनुसार उपयोग में लाये जा सकते हैं। इनका संक्षिप्त उल्लेख यहाँ हम देते हैं:—

(१) बुद्धि योग[1]

इसका उद्देश्य है बुद्धि के बहिर्मुखी बिखरेपन के स्थान पर एकाग्र सत्यनिष्ठ बुद्धि को उपलब्ध करना। यह किया कैसे जाय? इन्द्रियाँ बाहर की ओर खुली हैं और ये सदा बाहर की ओर दौड़ती रहती हैं। इनके इस उच्छृंखल भाव में संयम लाया जाये। इनके पीछे जो इच्छाएँ, कामनाएँ काम कर रही हैं और जो बाह्य विषयों का उपभोग चाहती हैं उनसे अपने आपको अलग किया जाए। प्रकृति के व्यवहार को अपने से अलग प्रकृति के व्यवहार के रूप में ही देखा जाए और अपना तादात्म्य अपने अन्दर के चेतन पुरुष के साथ किया जाए।

---

१. व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम् ॥२,४१॥

हे अर्जुन! इस मार्ग में निश्चयात्मिकता बुद्धि एकनिष्ठ होती है, परन्तु अनिश्चित चित्त वाले मनुष्यों की बुद्धियाँ अनेक शाखा वाली और अनन्त होती हैं।

जो बुद्धि इस प्रकार पुरुष भाव में प्रतिष्ठित होती है वह सम तथा तटस्थ होती है और ऐसा व्यक्ति स्थितधी, अर्थात् स्थिर बुद्धि वाला होता है।

(२) कर्मयोग[१, २]

उपर्युक्त साधना मूल रूप में ज्ञान मार्ग और सांख्य परम्परा की साधना है जिसे थोड़ा परिवर्द्धित कर के गीता अंगीकार कर लेती है। गीता का स्थितधी कर्मरत व्यक्ति है। सांख्य परम्परा में ज्ञानोपलब्धि ही उद्देश्य है।

गीता की निजी साधना कर्मयोग की साधना है। कर्म सामान्य व्यवहार है। सारी प्रकृति कर्म रूप है। सब मानव कर्म करते हैं। कर्म के बिना हम रह ही नहीं सकते। परन्तु यह कर्म होता है प्रायः मोह, बन्धन, दासता, अनिवार्यता, लिप्तता, चिन्ता और भय युक्त। यह होना चाहिये मुक्त भाव का, स्वामित्वपूर्ण, आनन्द-युक्त। यह हो तो कैसे हो। व्यक्ति का वर्तमान व्यवहार सब प्रकृति का है, सत्व, रज, तम तीन गुणों का है। इनसे तटस्थ होकर यदि वह निरपेक्ष साक्षी रूप ब्रह्म के साथ तादात्म्य उपलब्ध कर ले तो वह अनुमन्ता रूप में, सर्वथा अलिप्त, प्रकृति के कार्यों को प्रचलित करने में समर्थ हो जायगा। गीता की अपनी सत्ता यह अक्षर, सतत सम, साक्षी पुरुष रूप नहीं बल्कि क्षर पुरुष (परिवर्तनशील प्रकृति रूप) तथा अक्षर पुरुष (सदा सम वैश्व सत्ता) से परे तथा

---

१. योगः कर्मसु कौशलम्—योग कर्म में सच्ची कुशलता है।

२. तपस्विभ्योऽधिको योगी
ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी
तस्माद्योगी भवार्जुन ॥६,४६॥

योगी तपस्वियों से श्रेष्ठ होता है, ज्ञानियों से भी श्रेष्ठ होता है और कर्म करने वाले व्यक्तियों से भी योगी श्रेष्ठ होता है—यह मेरा अभिमत है; इसलिये हे अर्जुन ! योगी हो।

इन दोनों को संयुक्त करने वाला पुरुषोत्तम है, जो अपनी परा तथा सर्वचेतन प्रकृति द्वारा इस अचेतन प्रकृति का सृजन तथा प्रचालन करता है। गीता के कर्मयोग का पूर्णरूप है उस पुरुषोत्तम सत्ता से युक्त भाव उपलब्ध करके उस परम चेतन सत्ता के भाव में कर्म करना।

इसे साधित किया जाए तो कैसे ? इन्द्रियाँ बाह्य विषयों से शासित हैं। मन उनके पीछे-पीछे चलता है। बुद्धि भी साथ हो जाती है। प्रेरक शक्तियाँ विभिन्न इच्छाएँ हैं। प्राण के आवेग-प्रवेग हैं। और इन सब के पीछे अहं भाव है, 'मैं यह हूँ,' 'मैं यह चाहता हूँ,' 'मैं स्वतन्त्र हूँ,' 'जो चाहूँ कर सकता हूँ' आदि आदि। यह अहं इच्छा करता है, अपने आप को कर्त्ता मानता है और अपने कर्म के फल की आग्रह-पूर्वक लालसा करता है।

वस्तु-स्थिति यह है कि यह सब व्यवहार प्रकृतिजन्य है, प्रकृति का है। व्यक्ति प्रकृति की सामान्य प्रत्तिवृयों, भूख, प्यास, क्रोध, लोभ, मोह, यज्ञ आदि का अनुशीलन करता है और उनमें प्रत्यक्ष ही एक अनिवार्यता जुड़ी होती है। तब वह स्वतन्त्र कर्त्ता कैसे ?

स्वतन्त्र कर्त्ता बनने के लिये उसे इन्द्रियों पर संयम करना होगा, मन शान्त करना होगा, बुद्धि स्थिर करनी होगी और संपूर्ण चेतना में समत्व-भाव प्रतिष्ठित करना होगा। कर्मों के फल का मोह त्यागना होगा और अन्त में कर्त्तापन की भावना को भी छोड़ना होगा और सारे व्यवहार को प्रकृति के व्यवहार के रूप में अनुभव करना होगा। तब व्यक्ति साक्षी रूप ब्रह्म से तादात्म्य उपलब्ध करने में सफल होगा, और उसके बाद फिर वह पुरुषोत्तम भाव को भी उपलब्ध कर सकेगा। वह पूर्ण रूप की जीवन-मुक्त अवस्था।

(३) ज्ञानयोग

सांख्य और वेदान्त का साधना-क्रम ज्ञान योग है। ये दोनों दर्शन अपने-अपने ढंग से सद्वस्तु के ज्ञान को ही उद्देश्य बनाते हैं तथा उस ज्ञान की उपलब्धि से जीवन की कृतकार्यता मानते हैं। सांख्य के लिये उद्देश्य है पुरुष-प्रकृति का विवेक और वेदान्त के लिये निर्गुण ब्रह्म का ज्ञान तथा उससे तादात्म्य।

गीता के लिये कर्म केन्द्रीय तथ्य है। परन्तु ज्ञान इसके उद्देश्य का अनिवार्य अंग है। पुरुषोत्तम का समग्र भाव में ज्ञान होना चाहिए, उससे प्रेम होना चाहिए और उसकी चित्त-शक्ति से प्रेरित कर्म होना चाहिये। परन्तु केवल ज्ञान के उद्देश्य को भी यह मान्यता देती है और ज्ञान की प्रशंसा खूब ही करती है।[1] अतः ज्ञानयोग की साधना गीता की साधना का एक प्रबल अंग है। बुद्धियोग इसी साधना का एक स्वरूप है। साधारणतया हमारे मन-बुद्धि वस्तुओं के तलीय रूप में आसक्ति भाव बना लेते हैं। उनका दृश्य रूप ही वे अन्तिम मान लेते हैं। इन्हें इस अभ्यास से मुक्त करवाना तथा सद्वस्तु रूप में सत्ता में प्रतिष्ठित करना ज्ञानयोग का उद्देश्य है। इसके लिए विचार, चिन्तन, मनन, ध्यान आदि अनेक साधनों का अभ्यास किया जाता है।

गीता का ज्ञानयोग भक्ति और कर्म का भी आदेश देता है। भक्ति से ज्ञान उपलब्ध होता है तथा कर्म से युक्तता और भी बढ़ती है जो ज्ञान की वृद्धि करती है।

(४) युक्त आहार-विहार का योग[2]

युक्त आहार-विहार पर गीता का विशेष बल है और यह अपने आप में एक साधना का क्रम बन जाता है। खीने-पीने, सोने, जागने आदि मे 'अति' भाव का गीता खण्डन करती है तथा इनमें मर्यादित रहने का आदेश देती है। परन्तु युक्त भाव का स्वरूप व्यक्ति-व्यक्ति तथा अवस्था-अवस्था के सम्बन्ध से भिन्न

---

१. देखो 'गीता का जीवन-दर्शन' पृ० श्लोक ४, ३३।

२. युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥६,१७॥

जिसका भोजन और विहार (क्रीड़ा) युक्त है, कर्मों में किया हुआ प्रयास युक्त है, सोना और जागना युक्त है, उसके लिये योग दुःख का नाश करने वाला होता है।

होगा। स्वस्थ के लिए, रोगी के लिए, बच्चों के लिए, युवा के लिए 'युक्त' का भाव अलग-अलग होगा। अति के व्यवहार में सदा आयास-प्रयास होते हैं। गीता का वैसे भी सहज-भाव पर बल बहुत है।

परन्तु 'युक्त' का एक अर्थ और भी है। वह यह कि सब आहार-विहार भगवान के साथ युक्त भाव में होना चाहिए।

अवश्य ही 'युक्त दोनों अर्थों में जीवन के लिए एक साधना का क्रम प्रस्तुत करता है।

(५) ध्यानयोग[1]

गीता राजयोग के ध्यान के क्रम को भी अंगीकार करती है तथा आदेश देती है कि व्यक्ति एकान्त में स्थिर सीधे आसन में बैठ कर नासाग्र पर[2] एकाग्रता का अभ्यास करे। ब्रह्मचर्य का पालन करे, संग्रह-भाव और इच्छाओं का त्याग करे, भय से मुक्त रहे और चित्त शान्त करे। जहाँ-जहाँ मन जाय उसे परिश्रम पूर्वक पुनः संगृहीत करे तथा अधिकाधिक अपने आप को ईश्वर के प्रति अर्पित करे जिससे कि वह अन्त में वहाँ परम शान्ति में प्रतिष्ठित हो जाए।

---

१. समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः।
संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् ॥ ६,१३ ॥
प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः ॥ ६,१४ ॥

पीठ, सिर और गर्दन को सीधे और निश्चल रखते हुए, स्थिर होकर, दृष्टि को अपनी नासिकाग्र में स्थिर करके, और इधर-उधर न देखते हुए, मन से भय को दूर हटा कर, ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करते हुए, मन को संयत करके शांत चित्त होकर मुझमें (अर्थात् भगवान में) अपने चित को लगा कर, भगवत्प-रायण होकर योग में स्थिर होकर बैठे।

(२) भ्रवों के बीच जो आज्ञाचक्र का स्थान है, वहाँ भी तथा हृदय में भी एकाग्रता का अभ्यास करने का आदेश गीता ने दिया है।

यह उपर्युक्त ज्ञान योग तथा कर्म योग के क्रमों के साथ एक ध्यान योग का क्रम हो जाता है, जो मन को संयमित करने के लिए विशेष उपयोगी माना जाता है।

(६) भक्तियोग[१]

श्रीकृष्ण ने विशेष रूप से प्रेम द्वारा भगवान की जिज्ञासा और साधना को प्रेरित और पोषित किया। वैष्णव धर्म की परम्परा श्रीकृष्ण में ही प्रतिष्ठित है। परन्तु गीता का भक्तियोग एक विशेष स्वरूप रखता है। जैसे ज्ञान योग भगवान् के प्रति हमारे ज्ञान पक्ष द्वारा पहुँचने का उपाय है, कर्मयोग कृर्तृत्व पक्ष द्वारा, इसी प्रकार भक्तियोग है भाव-भावनाओं द्वारा। इसमें सब प्रकार की भाव-भावनाओं को एकमात्र भागवत प्रेम में परिवर्तित करने का यत्न किया जाता है। सब राग-द्वेषों को, सब रुचियों-अभिरुचियों को सतत तथा व्यापक प्रेम और आनन्द के भाव में बदलने की कोशिश की जाती है।

परन्तु गीता का आग्रह है कि भक्ति हो ज्ञान-पूर्वक तथा कर्म युक्त। तभी वह यथार्थ और पूर्ण भक्ति होगी। हमें ज्ञान होना चाहिये भगवान के स्वरूप का। कितना विशाल, असीम तथा आनन्ददायक है वह। तब हमारा उसके लिये प्रेम और भी बलशाली होगा। और फिर यदि हमारा प्रेम पूर्ण और सच्चा है तो हम अवश्य ही भगवान् की इच्छा के अनुसार कर्म भी करना चाहेंगे। और यह कर्म हमें भगवान् के स्वरूप का और भी परिचय देगा और हमारे भागवत् प्रेम को और भी बढ़ाएगा। वास्तव में ज्ञान, भक्ति और कर्म

---

१. **मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।**
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः ॥१२,२॥

जो मनुष्य मुझ पुरुषोत्तम में अपने मन को प्रतिष्ठित करके निरन्तर मेरे साथ युक्त रहते हुए परम श्रद्धा से युक्त होकर मेरी उपासना करते हैं वे मेरे मत में पूर्णतया युक्त हैं।

मानव के स्वरूप में परस्पर सम्बद्ध हैं और गीता तीनों को भगवद् प्राप्ति के लिये प्रेरित और प्रचालित करती है। यही है इसका ज्ञान, कर्म और भक्ति, तीनों मार्गों का समन्वय।

(७) आत्म-समपर्ण योग[1]

अनेक अभ्यास-क्रमों का आदेश देकर तथा प्रकृति, तीन गुणों तथा क्षर अक्षर और पुरुषोत्तम रूप तीन पुरुषों तथा अन्य अनेक गूढ़ विषयों पर प्रकाश डालने के बाद अथवा अपने वक्तव्य को लगभग समाप्त करने पर गीता कहती है, लो यह गुह्य से गुह्य बात में अन्त में फिर कह देती हूँ। इसका कुछ निरूपण पहले भी आ चुका है। परन्तु अब वह विशेष स्पष्ट है। गीता कहती है, तू अन्य सब मान दण्डों तथा मर्यादाओं को छोड़कर एक मात्र भगवान की शरण ले। परम मानदण्ड वही है। अपने सामान्य स्वरूप की सब गतिविधियों को ज्ञान, कर्म और भक्ति सभी की सभी, उसी को अर्पित कर। तू उसी को समग्र रूप में प्राप्त करेगा और पूर्णतः तृप्त हो जाएगा। यह है गीता का आत्म-समर्पण योग।

ये सात साधना के क्रम जो हमने ऊपर गिनाये हैं, ये सबके सब अपने आप में बड़े सफल मार्ग हैं। किसी एक का अनुशीलन भी पूरा फलप्रद है। परन्तु ये सब संयुक्त भाव में भी प्रकृति और अवस्था की विशेष प्रेरणा के अधीन समय-समय पर बरते जा सकते हैं। इनमें आपस में कोई विरोध नहीं। गीता सभी को अनुमोदित करती है। आध्यात्मिक विकास का मानो एक सामान्य विज्ञान प्रस्तुत करती है और व्यक्ति से संभवतः अपेक्षा करती है कि वह स्वयं अपनी प्रेरणा और अभिरुचि के अनुसार अभ्यास के विभिन्न क्रमों का अनुशीलन करे।

---

१. सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥ १८,६६॥

समस्त धर्मों का परित्याग करके एक मात्र मेरी शरण ग्रहण कर, मैं तुझे समस्त पापों से मुक्त कर दूँगा, शोक न कर।

पुष्प ४

गीता का मनोविज्ञान

भारतीय संस्कृति सामान्य रूप से मनोविज्ञान पर आधारित है। इसका अर्थ यह कि यह व्यक्ति के मन, बुद्धि, चित्त के स्वरूप तथा इनकी विकास-स्थिति की अपेक्षा से उसके विश्वास, कर्म, धर्म, कर्तव्य को मानती है। इसीलिये अनेक प्रकार के विश्वास तथा पूजा-पाठ आदि को भारतीय जीवन में समान सी मान्यता दी गई है। व्यक्ति वास्तव में उन्नति ही उन्हीं अभावों के अधीन करता है जो उसके स्वरूप और अवस्था से कुछ साम्य रखते हों।

गीता एक शिक्षा को प्रस्तुत करती है। इसका उद्देश्य मानव जीवन के द्वन्द्वमय तथा दुविधामय स्वरूप के लिये एक निर्णायक पथ-प्रदर्शन तथा विकास क्रम की शैली को प्रशस्त करना है अथवा मानव के सामान्य जीवन को जो कि प्राकृतिक आवेगों-प्रवेगों से प्रचालित होकर अत्यन्त संकीर्ण रूप में निज तुष्टियों तक सीमित सा होता है उसे उन्नत स्तर पर ले जाना है, जहाँ वह स्वतन्त्र मुक्त भाव में समग्र सत्ता की पूर्ण प्रेरणा के आधीन सर्वहित के लिये व्यवहार करेगा। इस सबके लिये गम्भीर मनोवैज्ञानिक भाव की आवश्यकता है। सामान्य मानव का स्वरूप क्या है ? इसकी दुविधा के कारण क्या हैं ? उन्नत अवस्था जो इसके लिये सम्भव और प्राप्त है उसका स्वरूप क्या होगा ? अथवा वर्तमान अवस्था तक किस क्रम द्वारा अथवा किन अनेक क्रमों द्वारा ले जाया जा सकता है ? ये सबके सब प्रश्न मनोविज्ञान से सम्बन्ध रखते हैं। और गीता अपनी शिक्षा को सुन्दर मनोवैज्ञानिक शैली से प्रस्तुत करती है।

अर्जुन रूपी शिष्य का उसकी अवस्था, उसके ज्ञान, उसकी जिज्ञासा तथा श्रद्धा के अनुसार पहले उसके कर्तव्य का स्वरूप एक प्रकार से प्रस्तुत करती है। पीछे जैसे उसकी आन्तरिक अवस्था विकसित होती जाती है वही निर्देश अधिकाधिक समृद्ध और सार्थक धर्म में प्रस्तुत करती है।

मनोविज्ञान का मुख्य प्रश्न है मानव व्यक्तित्व का स्वरूप। इसके सम्बन्ध में भारतीय मनोविज्ञान अनेक विवेचन प्रस्तुत करता है। उपनिषदों का पंच कोषों का विचार एक है। गीता का निरूपण उपनिषदों के एक दूसरे विचार को विकसित करता है। वह इंद्रियों, मन, बुद्धि आदि की परिभाषा का स्वरूप है।[1] सांख्य की परिभाषा का अनुसरण करते हुए गीता पुरुष और प्रकृति समग्र के सत्ता के दो अंग मान कर चलती है। पुरुष अनेक नहीं एक है, जो अचल तटस्थ (दृश्य परिवर्तनमय प्रकृति से ऊपर) है तथा अनुमति से प्रकृति अ:ना सारा कार्य-व्यवहार स्वतन्त्र रूप से चलती है। पुरुष उसमें लिप्त नहीं। यह व्यवहार सत, रज, तम तीन गुणों का है अथवा जड़ता (गति रहितता) गतिशीलता तथा संतुलन की प्रवृत्तियों का है। ये तीन प्रवृतियाँ जड़-तत्व, प्राण-तत्व और मन (matter, life, mind) के स्वाभाविक गुण भी हैं। (matter) में जड़ता (inertia) है, प्राण में चंचलता है, मन में ज्ञान, संयोग तथा समन्वय है। मानवीय व्यक्तित्व भी प्रकृति का स्वरूप है, सत्व, रज और तम से गठित है, तथा उन्हीं से प्रेरित-प्रचालित है।

मनोवैज्ञानिक रूप में मानवीय व्यक्तित्व के अंग ये हैं। इन्द्रियां (ज्ञाने-इन्द्रियां) मन, बुद्धि, अहं-भाव और पुरुष। ज्ञान-इन्द्रियाँ सब बाहर की ओर

---

१. इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धे: परतस्तु सः ॥३, ४२॥

ज्ञानी मनुष्य कहते हैं कि इंद्रियाँ (उनके विषयों से) उच्च होती हैं, इन्द्रियों से मन उच्च होता है और मन से बुद्धि उच्च होती है, परन्तु जो बुद्धि से उच्च है वह पुरुष है।

खुली है और उनके द्वारा हम अपनी परिस्थिति का ज्ञान उपलब्ध करते हैं। ये हैं आँख, नाक, कान, जिह्वा तथा त्वचा। इनसे जो ज्ञान उपलब्ध होता है वह है रूप का, गन्ध का, शब्द का, स्वाद का तथा स्पर्श का। आधुनिक पश्चिमी मनोविज्ञान ने ज्ञान-इन्द्रियों तथा उनके विषयों का बड़ा विस्तीर्ण विश्लेषण किया है। जो हमारे इस ज्ञान को बहुत कुछ परिवर्द्धित करता है। कर्म-इन्द्रियाँ हैं अपनी परिस्थिति पर क्रिया करने के साधन-हाथ पाँव, जिह्वा (वाणी) मल-त्याग तथा प्रजनन की इन्द्रियाँ। मन को अन्दर की इन्द्रिय कहा गया है जो बाह्य इन्द्रियों के द्वारा ज्ञान प्राप्त करता है तथा उनके द्वारा क्रिया करता है। बुद्धि विचार और विवेक का अंग है। मन द्वारा प्रस्तुत विषयों पर विचार करना तथा निर्णय करना इसका काम है और व्यक्ति का अहं-भाव 'मैं यह हूँ", "मैं यह नहीं हूँ" यह इन्द्रियों, मन तथा बुद्धि में व्याप्त है। ये सब उसके अंतर्गत काम करते हैं। पुरुष इन सबसे अलग है, ऊपर है, इनके व्यवहार का साक्षी है तथा अनुमन्ता है, अर्थात्, इन्हें अपना व्यवहार करने के लिये अपने निष्क्रिय भाव में अनुमति देता है।

गीता का इतना मनोविज्ञान तो सांख्य दृष्टि से है और इसे वह अपने विचार की आधारशिला बनाती है। पीछे वह इसे परिवर्द्धित कर देती है। दृश्य अचेतन गुणों की प्रकृति के मूल में वह एक अदृश्य चेतन प्रकृति की स्थापना करती है। उसे पुरुषोत्तम का, जो तटस्थ साक्षी रूप वैश्व पुरुष से परे तथा ऊपर है, अंग मानती है। मानव व्यक्ति जीव है और उस परा प्रकृति का अंश रूप है।[1] इससे मानवीय व्यक्ति का गठन यह हो जाता है : इन्द्रियाँ,

---

१. न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥१५, ६॥

उसे सूर्य प्रकाशित नहीं करता, न चंद्रमा प्रकाशित करता है और न अग्नि प्रकाशित करती है (वह सनातन पुरुष का स्वयं-ज्योतिज्ञ स्वरूप है); जिस पद को प्राप्त करके फिर जन्म मरणशील संसार में नहीं लौटना होता वह मेरा परम धाम है (पुरुषोत्तम का उच्चतम स्वरूप है)।

मन, बुद्धि, अहंभाव अथवा अहंकार और चेतन व्यष्टि-रूप आत्मा अथवा 'जीव'।

सामान्य प्राकृतिक में रूप में मानवीय व्यक्तित्व के तीन प्रधान प्रकार कहे जा सकते हैं : सात्विक, राजसिक और तामसिक। सात्विक व्यक्तित्व सजग होगा, ज्ञान, शान्ति, समस्वरता, सहयोग, सद्भाव की जिज्ञासा वाला होगा। राजसिक व्यक्तित्व संग्रहशील, संघर्षशील और चंचल स्वभाव वाला होगा तथा तामसिक व्यक्तित्व मन्द होगा, आलसी होगा अप्रगतिशील होगा। इन तीनों के बीच में व्यक्तित्व के अनेक उपभेद भी हो सकते हैं। सत्व, रज और तम के ऐसे रूप भी हो सकते हैं जिनमें स्पष्टत: एक प्रधान नहीं बल्कि सत्व और रज, सत्व और तम, रज और तम कुछ बराबर से हैं। इस प्रकार इन तीनों के मेल से अनेक रूप बन सकते हैं।

जैसा भी किसी व्यक्ति का स्वभाव होगा उसी को लेकर ही उसे अग्रसर होना होगा अथवा वही उसके स्वधर्म, अर्थात्, विकास की मर्यादा को निर्धारित करेगा। हमारे व्यक्तित्व की जितनी चेष्टाएँ तथा वृत्तियाँ हैं जिनकी पश्चिमी मनोविज्ञान बड़े ब्योरे से गणना करता है सबकी सब इन तीन गुणों के आधीन आती हैं। कर्म रूप में अथवा भावना में अथवा चिन्तन में जो प्रधानत: यांत्रिक वह तमोगुण प्रधान है जिनमें प्रबल गति और प्रवेग है, उल्लास और उग्रता है वे रजोगुण-प्रधान मानी जाएंगी; तथा जिनमें सौम्यता है, व्यापक सजागत है, धीरज है, विशाल उद्देश्य है वे सत्वगुण-प्रधान होंगी।

प्रकृति रूप स्वभाव के पीछे उसका वास्तविक व्यष्टि रूप उसकी आत्मा, उसका जीव भाव है। इसकी प्रेरणा, इसकी जिज्ञासा, इसकी भावना जो प्रच्छन्न रूप से बाह्य व्यक्तित्व को प्रभावित करती है। व्यक्ति का आन्तरिक सच्चा स्वाभाव है और उसका प्रेरित कर्म सच्चा स्वधर्म।

किसी भी मनोविज्ञान के स्वरूप की सत्यता की परख और कसौटी यह है कि वह हमें अपने आपको तथा अन्य मानवों की वृत्तियों और व्यवहार को समझने में कितनी सहायता प्रदान करता है तथा अपनी वृत्तियों तथा व्यवहार

को तथा अन्यों की वृत्तियों और व्यवहार को बदलने में कितना सामर्थ्य देता है। पश्चिमी मनोविज्ञान आज Integration of personalty (व्यक्तित्व के एकीकरण) के आदर्श को खूब अच्छी तरह स्वीकार करता है। परन्तु एकीकरण के क्रम के बारे में निश्चयात्मक विचार अभी तक नहीं बन पाया। वस्तुतः इस विषय पर भारतीय मनोविज्ञान अथवा उनके योग-शास्त्र खूब निश्चय भाव रखते हैं।

व्यक्ति परिश्रम-पूर्वक अपनी चित्त की अवस्थाओं का निरीक्षण करे तथा दूसरे के व्यवहार को गम्भीर दृष्टि से देखे। अपनी वृत्तियों को पहचाने, सत्व, रज और तम को व्यवहार को पहचाने तथा उनसे अपने आपको तटस्थ करके देखने का यत्न करे। तटस्थता के अभ्यास से उसे उन वृत्तियों पर अधिकार प्राप्त होने लगेगा, और ऐसा करते-करते अनुकूल अवस्था में अपने केन्द्रीय आत्म-भाव की भी झलक प्राप्त होने लगेगी और उसके प्राप्त होने से अपना सारा व्यक्तित्व विशेष रूप से स्पष्ट दिखाई देने लगेगा। उपर्युक्त मनोविज्ञान अनुभव में सर्वथा परखा जा सकता है और इसे परखना चाहिये तभी व्यक्ति को अपने विषय में निश्चयात्मक ज्ञान प्राप्त होगा।

पुष्प ५

गीता की तत्त्व मीमांसा

(METAPHYSICS)

सूर्य्य हमें प्रातःकाल निकलता अथवा नीचे से ऊपर को उठता हुआ दिखाई देता है और सायंकाल छुपता अथवा ऊपर से नीचे को जाता हुआ दिखाई देता है। परन्तु वास्तव में न यह निकलता है न छुपता है, बल्कि पृथ्वी अपनी धुरी पर घूम रही है तथा ऐसे घूमते हुए सूर्य की चारों ओर चक्कर लगा रही है। अपनी धुरो पर की जो उसकी गति है उससे इसका एक पक्ष सूर्य की ओर आता है तो दूसरा उससे परे चला जाता है। इससे हमें सूर्य निकलता और छुपता प्रतीत होता है। चल पृथ्वी रही है परन्तु पृथ्वी पर रहते हुए अनुभव हमें यह होता है कि सूर्य चलता है, ऊपर को जाता है पीछे फिर नीचे को चला जाता है। वस्तूतः सूर्य्य एक स्थान पर स्थिर है।

जगत में बार-बार हम ऐसा ही अनुभव करते हैं। वस्तु प्रतीत एक प्रकार की होती है और वास्तव में वह कुछ और होती है। जिज्ञासा होती है कि वस्तुओं का वास्तविक रूप क्या है ? जगत् समूचा वास्तव में क्या है ? अथवा सत्य क्या है तथा सत्ता क्या है ?

दर्शन का मूल प्रश्न ही सत्ता का है। विभिन्न दर्शन प्रधानतः सत्ता के स्वरूप का ही निरूपण अपने-अपने अनुभव तथा चिन्तन से करने का यत्न करते हैं। सत्ता के स्वरूप पर ही निर्भर करता है उनका जीवन-दर्शन, उनको साधना शैली उनका नीति-शास्त्र तथा अन्य दार्शनिक प्रश्नों के समाधान। सभी दर्शन सभी

प्रश्नों पर प्रकाश नहीं डालते और न ही ये समाधान सदा संगतिपूर्ण होते हैं, परन्तु सत्ता का स्वरूप उस सारे चिन्तन में केन्द्रीय होता है तथा अन्य विषयों को प्रभावित करता है ।

गीता-दर्शन खूब व्यापक स्वरूप वाला है । जीवन के विविध प्रश्नों पर यह सुन्दर प्रकाश डालता है तथा जिन पर इसने साक्षात रूप से प्रकाश नहीं डाला उनके विषय में इसकी दृष्टि क्या होगी, इसका हम अनुमान लगा सकते हैं । सत्ता के विषय में गीता स्पष्ट है और यह केन्द्रीय भाग इसका बड़ा सबल है । उसे क्रियात्मक रूप में उपलब्ध करने का साधना-क्रम भी इसका स्पष्ट है । मानव कर्त्तव्य के विषय में भी इसका निर्देश स्पष्ट और अपूर्व है । फिर यह प्रकृति-भेद और अवस्था-भेद के सत्य को स्वीकार करती है और उदारतापूर्वक विभिन्न अवस्थाओं और निष्ठाओं के लिए विभिन्न क्रमों को मान्यता देती है ।

अब हम जरा यह देखें कि गीता के अनुसार यह जगत् क्या है ? गीता उस समय से सांख्य विचार को अंगीकार करके चलती है । वह यह कि यह समूचा जगत दो तत्वों का बना है । एक प्रकृति, जो हमें इन्द्रियगोचर है, परिवर्तनमय, संघर्षमय, द्वन्द्वमय, अचेतन तथा अर्धचेतन । सांख्य के दार्शनिकों की यह अद्भुत मौलिक आध्यात्मिक अनुभूति थी कि जब तक इस प्रकृतिगत चंचलता से अपने आपको अलग करके तटस्थ होते हैं तो हमें एक चेतन शान्त भाव का अनुभव होता है । यह भाव अजर और अमर है, निर्पक्ष है, शान्त है, निष्क्रम है तथा कूटस्थ है, अर्थात्, प्रकृति से ऊपर है । इसे उन्होंने पुरुष कहा । दोनों तत्वों को उन्होंने अनादि माना । परन्तु पुरुष चेतन है और प्रकृति जड़ । अब प्रश्न पैदा हुआ कि जड़ प्रकृति में क्रिया कैसे पैदा हुई । पुरुष तो निर्पेक्ष है और निष्क्रय है । इसका उन्होंने यह समाधान प्रस्तुत किया कि पुरुष निष्क्रय भाव में अनुमति मात्र से जड़ प्रकृति में गति प्रेरित करता है और प्रकृति पुरुष की प्रसन्नता के लिए सचेष्ट हो जाती है इस प्रकार दो स्वतन्त्र सत्ताओं में एक सम्बन्ध स्थापित हो जाता है । प्रकृति के व्यवहार में मन बुद्धि के जो चेतन अंग हैं यह पुरुष के सम्पर्क से प्रकृति में प्रकट होते हैं । यह है जगत् का वास्तविक रूप, सांख्य के अनुसार ।

सांख्य विश्लेषण का आश्रय लेकर चलता है और इस विचारधारा ने जगत् का विस्तीर्ण विश्लेषण किया और कुल २४ तत्व गिनाए। इस निरूपण में विकास का भाव भी निहित है ? पुरुष और प्रकृति दो मूल तत्व ठहरे। उनका आपसी सम्बन्ध ऊपर हमने वर्णन किया है। अब प्रकृति का विश्लेषण, जिससे कि दृश्य जगत् का स्वरूप समझ में आने लगे, इस प्रकार है। प्रकृति का मूल तत्व है महत् उससे बनी पाँच तनमात्राएँ और उनसे बने पांच महाभूत, पृथ्वी जल, वायु, अग्नि और आकाश। तनमात्राएँ महाभूतों के सूक्ष्म भाव हैं। यह विकास की एक दिशा है। दूसरी दिशा यह है : महत् से हुई बुद्धि, बुद्धि से अहंकार और उससे मन और फिर पांच ज्ञान-इन्द्रियाँ (आँख, नाक, कान, जिह्वा (स्वाद) और त्वचा) और पाँच कर्म-इन्द्रियाँ (हाथ, पांव, जिह्वा (वाणी) मल-त्याग और जनन के अंग)। सब मिलकर ये तत्व हो जाते हैं चौबीस। और सारा जगत् इनका बना हुआ है और इन्हीं का व्यवहार है। पुरुष अनुमति देकर प्रकृति के व्यवहार में लिप्त हो जाता है और यहाँ सुख-दु:ख को भोगने लगता है। उसी अनुमति को वापिस लेकर वह प्रकृति से मुक्त हो सकता है तथा अपने शुद्ध भाव को पुन: प्राप्त कर सकता है। गीता के सांख्य विचार का स्वरूप यही है। कृष्णकारिका के सांख्य में पुरुष अनेक हैं और सारा जगत् अनेक पुरुषों और प्रकृति का स्वरूप है।

गीता सांख्य का पुरुष एक है निर्गुण है; अर्थात्, निर्वैयक्तिक ब्रह्म है, सार्व-भौम निर्पेक्ष तथा कूटस्थ है। परन्तु गीता तो कर्म का त्याग नहीं चाहती। उसका तो सारा उद्देश्य ही कर्म की अनिवार्यता और औचित्य दर्शाने का है। इस कारण वह इस पुरुष के अनुमन्ता भाव पर बल देती है और कहती है : 'हे अर्जुन ! तू इस शान्त ब्राह्मी स्थिति में प्रतिष्ठित हो और प्रकृति को काम करने दे। तू कर्म कर, परन्तु अलिप्त रह।'

परन्तु सत्ता का यह निरूपण तथा कर्म का यह निर्देश गीता में प्रारम्भिक है अन्तिम नहीं। अन्त में गीता समूची सत्ता को तीन पुरुषों और दो प्रकृतियों का स्वरूप देती है। तीन पुरुष हैं क्षर, अक्षर और पुरुषोत्तम। क्षर पुरुष है

परिवर्तनमय, सत्व रज तम की प्रकृति। अहं रूप मानव भी इसी का अंग है। अक्षर पुरुष वेदान्त का निर्गुण ब्रह्म है तथा सांख्य का साक्षी पुरुष। यह अविकारी है, निर्व्यैक्तिक है, सदा सम, चेतन और शान्त। पुरुषोत्तम दोनों को समन्वित करता है तथा अतिक्रान्त करता है। ये दोनों उसके अंग हैं और वह इनसे बड़ा है, अर्थात्, उसका असीम भाव इन दोनों में सीमित नहीं हो जाता। उसका एक परात्पर भाव इनसे और परे का भाव भी है। वह व्यक्ति रूप परम् पुरुष है जो मानव के भावमय पक्ष का उचित आदर्श हो सकता है। वह जगत् का स्वामी तथा इसकी गति-विधि का कर्त्ता भी है मानव के कर्तृत्व पक्ष का परम आदर्श है। नियर्वैक्तिक निर्गुण ब्रह्म इसी का वह पक्ष है जो व्यक्ति को अहं अतिक्रान्त करने पर प्रथमतः प्राप्त होता है। परन्तु ब्रह्म-भाव में और विकसित होने पर ब्रह्म का यह परम पुरुष अथवा पुरुषोत्तम भाव उपलब्ध होता है और यह स्वरूप ही ज्ञान, कर्म तथा भक्ति का पूर्ण ध्येय है।[1]

---

१. क) द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥१५,१६॥

इस लोक क्षर और अक्षर में दो पुरुष हैं क्षर पुरुष समस्त भूतों के रूप में हैं; इन समस्त भूतों से ऊपर अपनी शाश्वत शान्ति एवं नीरवता की निर्विकार अचलता में स्थित पुरुष अक्षर कहा जाता है।

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृत।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥१५,१७॥

परन्तु इन दोनों भिन्न एक उत्तम पुरुष है जो परमात्मा इस नाम से कहा जाता है, जो अविनाशी ईश्वर है और जो तीनों लोकों में प्रविष्ट होकर उन्हें धारण करता है।

(ख) भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥७,४॥

पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार यह मेरी आठ रूपों में विभक्त हुई प्रकृति है।

अब प्रकृति पुरुष से एक स्वतन्त्र सत्ता नहीं हो सकती। यह पुरुषोत्तम का ही व्यवहार ठहरा। परन्तु यह प्रकृति तो जड़ है। पुरुषोत्तम की मूल प्रकृति जरूर चेतन होनी चाहिए। वही गीता के अनुसार परा प्रकृति अथवा दैवी प्रकृति है और वह इस निम्न प्रकृति को शासित करती है। मानव में वही अंश रूप से विद्यमान है। परन्तु अहं भाव में आकर वह दिव्यांश निम्न प्रकृति में लिप्त हो जाता है। पुनः अलिप्त भाव को प्राप्त करके तथा पुरुषोत्तम भाव से मुक्त होकर मानव मुक्त हो जाता है और मुक्त भाव के ज्ञान, कर्म और भाव-भावना का अधिकारी हो जाता है।

यह गीता की तत्व-मीमांसा। यह वेदान्त के एकत्व का समूर्त रूप है। इसमें 'माया' रूप में भी दूसरा तत्व नहीं है। इसमें सांख्य के तथ्य समाविष्ट हैं परन्तु उसका द्वैत यहाँ नहीं। योग के कर्म-मार्ग का यह नितान्त पोषक है तथा भक्ति का पूरा आधार है। मानव की व्यक्तिगत सत्ता भी यहाँ सम्पुष्ट है।

श्री अरविन्द का दर्शन, जो उन्होंने अपने ग्रन्थ 'दिव्य-जीवन' में प्रतिपादित किया है, वर्तमान भारत की एक महत्वपूर्ण देन है। वर्तमान जीवन तथा भावी विकास के बारे में एक विस्तीर्ण दृष्टि प्रस्तुत करता है। और यह गीता-दर्शन को सम्पुष्ट करता है तथा आधार रूप से यह वहाँ मौजूद है।

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् ॥७, ५॥

हे महाबाहो! यह मेरी अपरा प्रकृति है, किन्तु इससे भिन्न मेरी परा प्रकृति है जो जीवों का रूप धारण करती है और जिसके द्वारा यह जगत् धारण किया जाता है, उसे तू जान।

पुष्प ६

गीता का नीतिशास्त्र

नीतिशास्त्र पाश्चात्य दर्शन की परिभाषा है, भारतीय ज्ञान में इसका पर्याय अंग धर्मशास्त्र हो सकता है। किन्तु धर्मशास्त्र का विषय है विधि-विधान, कानून। स्मृति ग्रंथ सब इसके अन्तर्गत हैं। धर्मशास्त्र वास्तव में समाज-व्यवस्था की दृष्टि से सभी प्रकार के कर्तव्यों का विवेचन करता है, उनका भी जो राज्य-शक्ति से अनुशासित हों तथा उनका भी जिनकी धर्माचार मांग करता हो तथा जो लोक परलोक दोनों से संबंधित हों। कर्तव्य की भाव-भावना का विचार दर्शन के प्रसंगों में आता है। पश्चिमी नीतिशास्त्र का विषय है कर्तव्य की मीमांसा और यह मानव को सामाजिक प्राणी मान कर, समाज की अपेक्षा से, कर्तव्य का विचार करता है। गीता कर्तव्य की मीमांसा तो अवश्य प्रस्तुत करती है, कर्तव्य-कर्म का निर्देश ही इसका सारा उद्देश्य है, परन्तु यह मानव को सामाजिक प्राणी के रूप में सीमित नहीं करती, यह उसे अपने आध्यात्मिक अथवा तात्विक रूप में लेती है।

पाश्चात्य नीतिशास्त्र एक विज्ञान का स्वरूप है जिसका अर्थ यह है कि वह सत्ता-विषयक प्रश्नों पर विचार नहीं करता। इसका उद्देश्य है सामान्य स्तर पर विचार-चिंतन आदि से 'हित' अथवा कर्त्तव्य के विषय में जानना तथा इनसे संबंधित प्रश्नों पर स्पष्टीकरण उपलब्ध करना। 'हित' और 'कर्त्तव्य' एक आदर्श की अपेक्षा करते हैं। उस आदर्श का निरूपण इसका विशेष विषय है। कांट (Kant) ने कहा था कि कर्त्तव्य आदर्श का आदेश है, वर्तमान स्थिति के

प्रति कर्त्तव्य का स्वरूप मुख्यत: वैयक्तिक है। व्यक्ति आदर्श की अनुभूति के अनुसार अपनी स्थिति में अपने कर्त्तव्य की प्रेरणा अनुभव करता है और वही उसके करने योग्य कर्म हो जाता है। परन्तु यह आदर्श मानसिक रूप में कल्पित एक भावना है। वही नीतिशास्त्र का उच्चतम 'हित' है और उसका अनुशीलन ही कर्त्तव्य-पथ। परन्तु इस 'हित' की कुछ यथार्थ सत्ता भी है या नहीं यह विचार नीतिशास्त्र विषयक सत्ता-शास्त्र का प्रसंग है, नीतिशास्त्र का अपना प्रसंग नहीं।

गीता कर्त्तव्य का विवेचन साक्षात् रूप से समाज की अपेक्षा से नहीं करती बल्कि उस परम सत्ता की अपेक्षा से करती है जिसका समाज-सत्ता एक अंग है और कर्त्तव्य उस परम सत्ता से पोषित होने के कारण समाज-सत्ता का पोषक बन जाता है और गीता पर्याय रूप में 'सर्वहित' और 'लोकसंग्रह' के आदर्शों को भी प्रस्तुत करती ही है।[1] परन्तु अंत में उसका बल पुरुषोत्तम भाव पर ही है, उसकी प्रेरणा ही कर्त्तव्य को निर्धारित करती है।

पुरुषोत्तम जगत् में व्याप्त है और एक-एक गति को प्रेरित-प्रचालित कर रहा है। परन्तु निम्न प्रकृति गुणों का द्वन्द्वमय व्यवहार है और यह अपनी इसी मर्यादा से चलती है। अंतर्यामी दिव्य-भाव प्रच्छन्न रूप से ही इसे दिशा देता है, साक्षात रूप से वह क्रियावान् नहीं। मानव जब इस प्रकृति को अतिक्रांत कर पुरुषोत्तम से स्थिर युक्तभाव उपलब्ध कर लेता है तभी वह जीवन-मुक्त का मुक्त कर्म अथवा दिव्य-कर्म करने में समर्थ होता है।

परन्तु उस अवस्था तक पहुँचने से पहले मनुष्य अपने कर्त्तव्य का निर्णय कैसे करे? युक्त भाव उपलब्ध करने की जिज्ञासा करे तथा उसके लिए साधना

---

१. (क) **लोकसग्रहमेवापि संपश्यन्कर्तुमर्हसि। ३,२०।**

लोक-संग्रह को दृष्टि में रखते हुए भी तुझे कर्म ही करना चाहिये।

(ख) **ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः। १२,४।**

वे सब प्राणियों के हित-साधन में लगे हुए मुझे ही प्राप्त करते हैं।

करे, अर्थात्, अयुक्त व्यवहार का उत्तरोत्तर त्याग करे। इसका अर्थ है वस्तुओं के प्रतीति-रूप में तथा कर्म के फल में आसक्ति को छोड़े और सब कर्म यज्ञ-रूप में करने का अभ्यास करे। ऐसा करते-करते युक्त भाव की भावना उपलब्ध होने लगती है और समय पा कर दृढ़ हो जाती है।

जीवन-मुक्त व्यवस्था अंतःस्थ 'जीव' अथवा आत्मा की अवस्था हो जाती है। उसमें जीव सहज ही अपना सम्बन्ध पुरुषोत्तम के अंतर्यामी तथा परात्पर भाव के साथ अनुभव करता है और उसकी प्रेरणा से तथा उसकी अभिव्यक्ति रूप सब कर्म करने लगता है। जीव पुरुषोत्तम का अंश है और व्यष्टिभाव का स्वरूप है। इस व्यष्टिभाव का अपना स्वभाव है और वह स्वभाव उसके आध्यात्मिक स्वधर्म को निर्धारित करता है। पुरुषोत्तम से प्रेरित होने पर वह स्वधर्म एक विशालतर स्वरूप को उपलब्ध करता है। उस समय बाह्य व्यक्तित्व के मन, प्राण और शरीर और इनके सत्व रज और तम अधीनता में आ जाते हैं तथा आत्म-अभिव्यक्ति के करण बन जाते हैं।

परन्तु सामान्य स्वरूप से व्यक्ति तीन गुणों का संयोग होता है और उनसे ही उसका सात्विक, राजसिक और तामसिक स्वभाव बनता है। आदर्श और उद्देश्य सदा स्पष्ट रहना चाहिये और व्यक्ति को अपने स्वभाव के अनुसार सहज कर्म करते जाना चाहिए। ऐसा करते हुए व्यक्ति तामसिक से राजसिक और राजसिक से सात्विक स्वभाव को प्राप्त करेगा और अंत में निज आध्यात्मिक स्वभाव को भी अधिगत करने में सफल होगा तथा पुरुषोत्तम में भाव भी उपलब्ध करेगा। यह सब व्यक्ति की आंतरिक चेतना के विकास की मर्यादा है।

सामान्य स्तर के विकास की मर्यादा को थोड़ा और स्पष्ट रूप में अनुभव करने के लिए गीता के कर्म और 'कर्ता' के सात्विक, राजसिक, तामसिक विभेदों पर विचार कर लेने से सहायता मिलेगी। गीता कहती है : जो कर्म फल की इच्छा न रखने वाले व्यक्ति के द्वारा यथावत नियन्त्रित, आसक्ति-परित्याग पूर्वक, राग एवं द्वेष के बिना किया जाता है वह सात्विक कहा जाता है।' १८, २३। 'और जो कर्म केवल अभिलषित फल पर जिसकी दृष्टि केन्द्रित है

ऐसे व्यक्ति के द्वारा और कर्म में अपने व्यक्तित्व के अहं भाव को घुसेड़ने वाले व्यक्ति के द्वारा अत्यधिक परिश्रम के साथ किया जाता है वह राजसिक कहा जाता है।" १८, २८। "तथा जो कर्म परिणाम, अन्ध-प्रयास से होने वाली हानि या अपव्यय, दूसरों की हिंसा और अपने बल का सामर्थ्य को न विचार कर, मोहवश आरम्भ किया जाता है तह तामसिक कहा जाता है।" १८, २५।

प्रत्यक्ष की सात्विक कर्म वह है जो शुद्ध रूप में कर्तव्य की भावना से किया जाता है, अर्थात् प्रेरक भाव जिसमें यह ही हो कि अमुक कर्म मेरे लिए उचित है। इस अवस्था का आदर्श व्यक्ति में प्रेरित होगा उस समय के व्यापक मान-दण्डों से, स्वीकृत दृष्टान्तों से, अर्थात् वर्तमान शास्त्र से तथा व्यक्ति के अपने चिन्तन-विचार से इस अवस्था का कर्तव्य प्रत्यक्ष ही सामान्य सामाजिक स्थिति से सम्बन्ध रखता है। और इसी अवस्था का उच्चतम आदर्श है 'सर्वहित' तथा 'लोक-संग्रह', अर्थात्, जागतिक कल्याण। राजसिक कर्म में अपनी कामना, फल की इच्छा, अपना अहंभाव, कर्म में 'मैं-पने' पर वल तथा आयास-प्रयास प्रधान हैं। तामसिक कर्म में अज्ञानता, अविचार, अन्ध-प्रयास तथा दूसरों की हानि आदि विशेष विद्यमान है?

'कर्त्ता' के विभेद भी इसी विषय को और स्पष्ट कर देते हैं। गीता कहती है: 'आसक्ति से रहित, अहंभाव से रहित, कर्तव्य कर्म में निर्वैयक्तिक निश्चयता और उच्च-शुद्ध, शान्त एवं निःस्वार्थ उत्साह से युक्त, सफलता में हर्षित न होने वाला कर्त्ता सात्विक कहा जाता है।" १८, २६। तथा "प्रबल बेग से कर्म में आसक्त (उसे पूरा करने के लिए व्याकुल), व्यग्रता से कर्मफल की अभिलाषा करने वाला, लोभी हृदय वाला, क्रूर, अपवित्र मन वाला, सफलता में अत्यधिक हर्षित होने वाला और सफलता में बुरी तरह शोक करने वाला कर्त्ता राजसिक कहा जाता है।" १८, २७॥ और मनोयोग रहित, असंस्कृत बुद्धि वाला, ढीठ, धूर्त्त, दूसरों का और विशेषकर अपने से श्रेष्ठ एवं ज्ञानी व्यक्तियों का तिर-स्कार करने वाला, कर्म करने में मन्द, आलसी, ढीला, विलम्ब से कर्म करने वाला और शीघ्र अनुत्साहित होने वाला, धैर्य खो बैठने वाला, शोकाकुल होने वाला कर्त्ता तामसिक कहा जाता है। १८, २८।

सात्विक कर्त्ता में भी शुद्ध कर्तव्य की भावना प्रबल है। राजसिक कर्त्ता में आसक्ति, लोभ, दूसरों की हानि के प्रति उपेक्षा अत्यधिक हर्ष-शोक प्रधान है। तामसिक कर्त्ता में आलस्य, अधीरता, दूसरों के प्रति विपरीत भाव आदि उपस्थित हैं।

गीता के नीतिशास्त्र का सामाजिक पक्ष विशेष रूप से इसके चारों वर्णों के निरूपण में निहित है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के विभेद गुण और स्वभाव पर आधारित हैं। ज्ञान, शक्ति, उत्पादन और सेवा, मानों ये चार हैं मूल प्रेरणाएँ इन चार स्वभावों की। वर्तमान मानव-समाज जगत भर में आज बहुत मिला-जुला है और ऐसे कुछ विभेद माने नहीं जाते। परन्तु मानव स्वभाव की ये प्रेरणाएँ ज्ञान, शक्ति, उत्पादन, सेवा व्यापक रूप में मनोवैज्ञानिक तथ्य के रूप में बराबर अनुभव होती हैं। गीता का कहना है कि व्यक्ति निज-स्वभावगत प्रेरणा का अनुसरण करते हुए अधिकतम पूर्णता को प्राप्त करेगा, वही उसका स्वधर्म होगा और उसी से अधिकतम लोक-हित साधित होगा। इसी आधार पर गीता पराये धर्म की निन्दा करती है और सहज नियत कर्म की प्रशंसा करती है।[1] परन्तु यह समाज की आदर्श अवस्था होगी जिसमें प्रत्येक

---

१. (क) **स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः। १८, ४५।**

जीवन में अपने-अपने स्वाभाविक कर्म में लगा हुआ मनुष्य आध्यात्मिक सिद्धि को प्राप्त कर लेता है।

(ख) **श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् १८, ४७।**

अपता धर्म सदोष होता हुआ भी भली प्रकार अनुष्ठित किये गए दूसरे के धर्म से श्रेष्ठ होता है।

(ग) **सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत् १८, ४८।**

हे कुन्ती पुत्र अर्जुन ! सहज, अर्थात्, स्वभावजन्य कर्म को दोषयुक्त होते हुए भी नहीं छोड़ना चाहिये।

व्यक्ति को निज प्रेरणा के अनुरूप विकास और कार्य का समुचित क्षेत्र मिल सके।

असंस्कृत मानव अथवा एक बालक अपने प्राकृतिक आवेगों-प्रवेगों से प्रचालित होता है और इनका उद्देश्य व्यक्ति की तात्कालिक तुष्टि होती है। इस व्यवहार में अपने जीवन के समग्र हित की भावना नहीं होती न ही सामाजिक लाभ-हानि का विचार होता है। नीतिशास्त्र मानव ऐसी अवस्था को धीरे-धीरे संस्कृत करके उसमें एक विशाल कर्तव्य-भावना को प्रतिष्ठित करता है। गीता इस कार्य को सुन्दर क्रम-बद्ध तरीके से सम्पन्न करती है। आचार-व्यवहार के दृष्टान्तों को मान्यता देती है, शास्त्र की मर्यादा, अर्थात्, समाज और समय के विधि-विधान को मान्यता देती है, तामसिक, राजसिक, सात्विक स्वभाव को स्वीकार करती है, और उनके स्वधर्मों को मान्यता देती है। फिर व्यक्ति के जीव रूप आध्यात्मिक स्वभाव और उसके स्वधर्म का निरूपण करती है और अन्त में पुरुषोत्तम भाव के उच्चतम दिव्य-कर्म का मार्ग प्रशस्त करती है।[1] समग्र भाव में गीता के नीतिशास्त्र का स्वरूप यही है।

●

---

१. (क) **मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।**
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥ १८, ६५ ॥

मेरे मन वाला, मेरी भक्ति करने वाला, मेरे लिए यज्ञ करने वाला हो, मुझे ही नमस्कार कर; ऐसा करने से तू निश्चय ही मुझे प्राप्त होगा यह मैं तुझे सच्ची प्रतिज्ञा के साथ कहता हूँ, कारण तू मेरा प्रिय है।

(ख) **तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।**
तत्प्रसादात्परां शान्ति स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्। १८, ६२ ॥

हे भारतवंशी अर्जुन! अपनी सत्ता के समस्त भावों के साथ एकमात्र उसकी ही शरण ग्रहण कर। उसके प्रसाद से परा कोटि की शान्ति को और शाश्वत पद को प्राप्त हो जायेगा।

पुष्प ७

गीता के विविध समन्वय

घर में बच्चे लड़ते हैं तो माता-पिता आतंकित नहीं हो जाते। वे जानते हैं ये अभी हँसने-खेलने लगेंगे। परन्तु बच्चे जिस समय लड़ रहे हैं उस समय आपस में वे अत्यन्त विरोध अनुभव करते हैं। माता-पिता उस समय भी उनमें मेल की भावना देखते हैं। ;उनके अनुभव के स्तर से बच्चों का विरोध आपस के प्रेम की ही एक गौण क्रिया है।

सत्ता तथा जीवन अनेक स्तरीय संगठन है। इनके दो प्रधान स्तर हैं। एक मन, प्राण और शरीर के व्यवहार का जो कि निम्न प्रकृति का क्षेत्र है। यह अपने स्वरूप से द्वन्द्वमय है। इसका विकास ही विरोधी शक्तियों के संघर्ष से संपादित होता है। और दूसरा है आध्यात्मिक सत्ता का, आत्मा का तथा परमात्मा का। यह स्वभाव से एकत्वमय है। जो नीचे विरोधी भाव हैं वे वहाँ ऊपर सहयोगी तत्व अनुभव होते हैं। जो भेदात्मक बुद्धि के लिए नितांत विरोध है, वह आत्मा के लिए एकत्व है। जो नीचे विरोधी भाव हैं वे वहाँ ऊपर सहयोगी तत्व अनुभव होते हैं। जो भेदात्मक बुद्धि के लिये नितांत विरोध है वह आत्मा के लिये एकत्व है।

यह जीवन का अद्‌भुत तथ्य है जिसे भारतीय संस्कृति ने खूब अपनाया है। इसका विकास मानो विरोधी तत्वों में समन्वय साधित करना ही रहा है और इसने बड़े-बड़े समन्वय साधित किये हैं और यही इसके चिरजीवी भाव का तथा शक्ति का रहस्य है। पश्चिम में हेगल (Hegel) ने इस तथ्य को बड़े मार्मिक

ढंग से पहचाना और मान्यता दी। उसने कहा कि एक स्तर के विरोध दूसरे स्तर पर सहयोगी बन जाते हैं ('Contradictories become complementaries')।

परंतु समन्वय विभिन्न तत्वों को थोड़ा बहुत संबंध जुटा कर इकट्ठा कर देना मात्र नहीं है। यथार्थ समन्वय के लिये एक नये यथार्थ अनुभव का स्तर उपलब्ध होना चाहिये, एक ऐसा स्तर जो विरोधी तत्वों के यथार्थ भाव को यथार्थ रूप में संयुक्त देखता हो। ऐसा समन्वय ही वास्तविक हो सकता है और उसमें कुछ स्थायित्व हो सकता है।

गीता ने वास्तव में अनुभव तथा चरितार्थता का ही एक नया स्तर प्रस्तुत किया जिसमें गीता के समय के जो सांस्कृतिक विरोध थे उनका समन्वय साधित हो सका तथा जीवन के लिये एक विस्तीर्णतर तथा विशालतर मार्ग प्रशस्त हो सका। इस दृष्टि से सांख्य, योग और वेदांत तथा ज्ञान, कर्म और भक्ति में एक अद्‌भुत समन्वय बन पाया। और साधना का स्वरूप भी अत्यंत विस्तीर्ण तथा स्वाभाविक हो गया।

समन्वय की इन तीनों धाराओं का थोड़ा उल्लेख यहाँ हम फिर कर देते हैं।

गीता का सत्ता-शास्त्र निर्वैयक्तिक निर्गुण ब्रह्म को स्वीकार करता है। और यह उसके लिये अनुभव की एक सार्थक स्थिति है, अर्थात्, जब मानव अहंभाव को अतिक्रांत करता है तब वह प्रथम रूप में एक विशाल निर्वैयक्तिक, निर्गुण तथा निष्क्रिय मुक्त अवस्था को प्राप्त करता है। इसके लिये प्रकृति एक दूसरा तत्व है, चंचल और बंधनकारी।

परन्तु गीता कहती है कि अनुभव का यह स्तर अंतिम नहीं है। इससे ऊपर एक और स्तर है जिसमें ब्रह्म की अनुभूति और है। वह यह कि यह जगत् विरोधी तत्व नहीं बल्कि उसी से सृष्ट, उसी से प्रचलित, उसी से व्याप्त एक क्षेत्र है। यह जगत् यांत्रित रूप से अपने ही नियमों द्वारा प्रचालित है परन्तु

इसके मूल में प्रच्छन्न रूप से भगवान् की चेतन-शक्ति, उसकी परा प्रकृति विद्यमान है, तथा यह भी कि यह निर्गुण ब्रह्म उस सर्वग्राही ब्रह्म का ही एक स्वरूप है। उस सर्वग्राही ब्रह्म को गीता ने निगुण गुणी भी कहा है, अर्थात्, वह गुणों से परे है तथा सब गुण भी उसी में हैं।[1]

यह अनुभव का स्तर ही गीता की सारी शिक्षा का मर्म है। इसी से इसके सारे समन्वय साधित होते हैं। यह अपने स्वरूप में पुरुषोत्तम है तथा अक्षर पुरुष इसी का एक अंग है और क्षर पुरुष, दृश्य परिवर्तनमय प्रकृति भी पुरुषोत्तम की दैवी प्रकृति द्वारा सृष्ट तथा अधिकृत उसी का ही एक अंग है। 'जीव' भी उसी का अंश होने से उसी का अंग ठहरा।

इस प्रकार गीता-दर्शन पूर्ण एकत्व का प्रतिपादन करता है। इसमें 'माया' का भी द्वैतभाव वाला तत्व नहीं है, क्योंकि जगत् मिथ्या नहीं है, यद्यपि मोह की माया में फंसा मानव सत्ता के समग्र रूप को पहचान नहीं सकता। यह गीता का वेदांत है। सांख्य इसमें अंगीकृत है। सांख्य का ज्ञान-मार्ग भी स्वीकृत है, क्योंकि सत्ता का ज्ञान आवश्यक माना गया है। योग को आज हम अष्टांग योग के अर्थों में लेते हैं।

परंतु गीता के समय 'योग' सांख्य के ज्ञान मार्ग की जगह 'कर्म मार्ग' का अभ्यास था। गीता योगमार्ग को ही हर प्रकार से प्रमाणित करती है। इस प्रकार सांख्य योग और वेदांत तीनों बड़े सार्थक भाव में समन्वित हो जाते हैं और उनके विरोध निर्मूल अनुभव होने लगते हैं।

ज्ञान, कर्म और भक्ति का समन्वय भी उपरोक्त सत्ता भाव पर आधारित है। परम सत्ता पुरुषोत्तम है जो व्यक्ति स्वरूप तथा भक्ति का आदर्श और उद्देश्य हो सकता है, अथवा जो मानव प्रेम के प्रत्युत्तर में अपना प्रेम प्रदान कर सकता है। निर्वैयक्तिक निर्पेक्ष ब्रह्म भक्ति को पोषित नहीं कर सकता परन्तु

---

१. न त्वहं तेषु ते मयि ।७, १२॥
मैं उनमें नहीं हूँ, वे मुझ में हैं।

पुरुषोत्तम रूप ब्रह्म कर सकता है । फिर वह सक्रिय है अपनी दैवी प्रकृति द्वारा । अतः वह कर्मों को पोषित करेगा और कर्म उसके साथ युक्तता का एक पूरा क्षेत्र और साधन बन जाएँगे । ज्ञान का विषय तो वह ठहरा ही क्योंकि वही परम सत्य है । इस प्रकार भक्ति, कर्म और ज्ञान तीनों बड़े यथार्थ रूप में समन्वित हो जाते हैं ।

ऐसे पुरुषोत्तम की उपलब्धि का मार्ग भी खूब विस्तीर्ण होगा । मानव अपने जीवन के किसी भी पक्ष द्वारा, ज्ञान-जिज्ञासा, भक्तिभाव तथा कर्तृत्व द्वारा तथा सभी द्वारा प्राप्त करने का यत्न कर सकता है । ज्ञान-योग, भक्तियोग तथा कर्मयोग सभी प्राप्य हैं, तथा सभी के विभिन्न साधन क्रमों को अतिक्रांत कर मानव एक मात्र अपने समग्र भाव में उसी पुरुषोत्तम की उपलब्धि की जिज्ञासा कर सकता है तथा उसे ही अपने आपको अर्पित कर सकता है । यह साधना-स्वरूप अत्यंत विस्तीर्ण है और इसके अंतर्गत प्रत्येक व्यक्ति अपने स्वभाव तथा विकास-स्थिति के अनुसार अपने उचित साधन-क्रम को प्राप्त कर सकता है ।

यज्ञ की भावना को गीता जीवन-व्यापी बना कर भी इसी उद्देश्य को पूरा करती है । प्रत्येक कर्म, मानसिक तथा शारीरिक, भगवान् को अर्पित होना चाहिये, इससे सारा जीवन ही यज्ञमय हो जाता है ।

गीता के समन्वय भाव ने, वास्तव में, सुन्दर उपलब्धियाँ प्राप्त कीं, जिन्होंने जीवन के लिये अत्यन्त उपयोगी पथ-प्रदर्शन प्रदान किया है ।

पुष्प ८

सत्त्व रज और तम तथा इनके अनुसार भोजन सुख और ज्ञान के विविध स्वरूप

सांख्य दर्शन का सत्व, रज और तम का विचार गीता में तो बड़े महत्व का स्थान रखता ही है, परन्तु वैसे भारतीय जीवन तथा साहित्य में भी यह काफी प्रभावशाली संस्कार है। इसे हम यहाँ जरा गहराई से समझने का यत्न करना चाहते हैं। इन्हें गुण कहा गया है परन्तु वस्तुतः ये प्रकृति के तीन मूल तत्व हैं। प्रकृति इन्हीं से बनी हुई है। फिर यह सूक्ष्क तत्व हैं। दृश्य प्रकृति में हम तीन अवस्थाएँ अथवा स्वरूप देखते हैं। जड़ता, निश्चेष्टता, अचेतनता, गुरुता; अवरोध, यह एक है। फिर सचलता, सचेष्टता, शक्ति, तीव्रता दुख। और तीसरे सचेतनता, व्यवस्था, लघुता, सुख। ये तीन अवस्थाएँ तथा स्वरूप तम, रज तथा सत्य के परिणाम हैं। ये तीन गुण भिन्न-भिन्न प्रकार से मिश्रित होकर जगत् की सम्पूर्ण वस्तुओं तथा अवस्थाओं को निर्धारित करते हैं। कहीं एक प्रधान है कहीं दूसरा और कहीं तीसरा। परन्तु सभी अवस्थाओं में तीनों विद्यमान होते हैं।

हमारे चित्त की अवस्थाओं में भी सचेतनता, ज्ञान-जिज्ञासा, शान्ति, सुख तत्व के द्योतक हैं। इच्छाएँ, उग्रता, व्यग्रता दुख रज के। और आलस्य, मन्दता अज्ञानता, संवेदनहीनता तम के। हर किसी के व्यवहार में ये तीनों प्रकार की अवस्थाएँ आती हैं अथवा हर किसी की प्रकृति में ये तीनों गुण होते हैं। परन्तु होते भिन्न-भिन्न मात्रा में है। कोई व्यक्ति प्रधानतः सात्विक होता है, कोई

राजसिक और कोई तामसिक । उसके अनुसार उसकी अभिरुचियाँ होती हैं और वैसी ही उसकी प्रवृत्तियाँ हमारी सभी प्रकार की अभिरुचियाँ तथा प्रवृत्तियाँ भोजन सम्बन्धी हों अथवा सुखोपभोग सम्बन्धी तथा ज्ञान-जिज्ञासा सम्बन्धी, सब तीन प्रकार की होती हैं । हमारी श्रद्धा तथा हमारा तप और दान भी तीन प्रकार के होते हैं ।

सत्व, रज और तम के पहचान के लिये गीता के मूल निरूपण बड़े उपयोगी हैं । उस पर यहाँ विचार कर लेना अच्छा होगा । गीता कहती है कि "जब इस देह के समस्त द्वारों में बोध, प्रत्यक्ष और ज्ञानरूप प्रकाश की बाढ़ आ जाती है तब सत्व गुण बढ़ा हुआ है, ऐसा जानना चाहिये ।" १४,११ ॥ तथा "लोभ, प्रयत्नशीलता, कर्मों का अनुष्ठान, हर्ष शोकादिजन्य अशान्ति, कामना-लालसा ये सब रजोगुण की वृद्धि होने पर प्रकट होते हैं ।" १४, १२ ॥ और प्रकाश का अभाव और अकर्मण्यता, कर्तव्य कर्म की उपेक्षा और मोह ये सब ही तमोगुण की वृद्धि होने पर प्रकट होते हैं ।" १४, १३ ॥

सत्व, रज और तम की पहचान हमें खूब परिश्रम से उपलब्ध करनी होगी । हमें बार-बार अपने चित्त की अवस्थाओं को तथा अन्यों के व्यवहार को इस दृष्टि से देखना होगा । ऐसा करते हुए धीरे-धीरे हम गुणों की मर्यादा को स्पष्ट भाव से देखने लगेंगे, और इससे अपनी वृत्तियों तथा व्यवहार तथा अन्यों की वृत्तियों तथा व्यवहार को समझने में तथा उन्हें परिवर्तित करने में हमें आश्चर्यजनक आत्म-विश्वास और सामर्थ्य उपलब्ध होंगे ।

जीवन के सभी व्यवहारों में ये तीनों गुण लक्षित होते हैं । दृष्टांत के लिए हम यहाँ भोजन, 'सुख' तथा ज्ञान पर विचार करते हैं और मूल शब्दों में ही इनके सात्विक, राजसिक, तामसिक विभेदों को वर्णित करते हैं ।

भोजन के सम्बन्ध में गीता कहती है "सब मनुष्यों को भोजन भी तीन प्रकार का प्रिय होता है, और वैसे ही यज्ञ, तप और दान भी (तीन-तीन प्रकार के प्रिय होते हैं)" । १७, ७ । "जीवन, भीतरी शक्ति, बाहरी स्थूल शारीरिक बल, स्वास्थ्य, सुख, मन-प्राण और शरीर की तृप्ति और प्रसन्नता इन सब को

बढ़ाने वाले, रस-युक्त, घृतादि स्निग्ध पदार्थयुक्त, सार रूप से दीर्घकाल तक शरीर में रहने वाले, हृदय को तृप्त करने वाले भोजन सात्विक स्वभाव वाले मनुष्यों को प्रिय होते हैं।" १७, ८। "अत्यधिक कड़ुए, अत्यधिक खट्टे, अत्यधिक नमक वाले, अत्यधिक तीखे, रूखे, दाहजनक तथा शारीरिक पीड़ा एवम् रोग और मानसिक शोक उत्पन्न करने वाले आहार राजसिक स्वभाव के मनुष्यों को प्रिय होते हैं।" १७, ९। और 'जो भोजन तीन घण्टे से अधिक का पका हो गया हो और इसलिए ठण्डा हो गया हो, रात बीत जाने पर बासी, जिसका स्वाद गिर गया हो, जो सड़ जाने के कारण दुर्गन्ध-युक्त हो गया हो, दूसरों का जूठा और जो अपवित्र भी हो वह तामसिक प्रकृति के मनुष्यों को प्रिय होता है।" १७, १०।

इसमें सन्देह नहीं कि यह सब गुणों के अन्दर की मर्यादा है। आत्मा और परमात्मा गुणों से ऊपर हैं तथा उनका प्रभाव गुणों के प्रभाव को अतिक्रान्त कर जाएगा। और उद्देश्य गुणों के ऊपर उठना तथा आत्मा को प्राप्त करना है। फिर भी व्यक्ति के लिये यह उपयोगी होगा कि वह जाने कि किस भोजन से, किस मात्रा में अथवा किस स्थिति में चित्त में सत्व भाव प्रेरित होता है। इससे व्यक्तिगत तम धीरे-धीरे भोजन के सम्बन्ध में 'युक्त' भावना उपलब्ध कर सकेंगे।

सुख के लिये हम सब की व्यापक वृत्ति रहती है। परन्तु सब के सुख एक जैसे नहीं होते। ये भी सात्विक, राजसिक तथा तामसिक होते हैं। गीता कहती है। "जिस सुख में (मनुष्य) आत्मसंयम, साधना, उच्च एवं कठिन प्रयास से रमण करता है (जिसे प्राप्त करता है) और अभ्यास से होने वाले दुख (कष्ट) के अन्त को प्राप्त होता है, वह जो कि अभ्यास के प्रारम्भ में विष के समान प्रतीत होता है, परन्तु अन्त में अमृत के समान होता है, आत्मा और बुद्धि की शुद्ध प्रसन्नता (तृप्ति) से उत्पन्न होता है वह सुख सात्विक कहा जाता है।" १८ ३६, ३७। तथा जो सुख विषय के साथ इन्द्रियों के संयोग से उत्पन्न होता है, प्रारम्भ में अमृत के समान प्रतीत होता है (परन्तु) अन्त में विष के समान होता

है वह सुख राजसिक कहा जाता है।" १८, ३८। तथा जो सुख आरम्भ में और अन्त में अन्तःकरण को मोह में फँसाने वाला है, (और जो) निद्रा, आलस्य और प्रमाद से उत्पन्न है वह सुख तामसिक कहा जाता है।" १८, ३९।

सात्विक सुख संयम, नियम, अभ्यास से प्राप्त किया जाता है और स्थायी भाव वाला होता है। राजसिक इन्द्रियों के उपभोग का सुख होता है जो अप्रिय प्रतिक्रिया अथवा परिणाम पैदा करता है। तामसिक सुख में अचेतनता, आलस्य, निद्रा, प्रमाद होते हैं।

ज्ञान के भी तीन स्वरूप बड़े मार्मिक हैं। गीता कहती है : जिस ज्ञान के द्वारा (मनुष्य) समस्त भूतों में एक अविनाशी सत् को और इन समस्त विभक्त पदार्थों में एकतम अविभक्त समग्र को देखता है उस ज्ञान को सात्विक जान।" १८, २०। तथा "जो ज्ञान विविध प्रकार के पदार्थों को केवल पृथक्-पृथक् ही समझता है और समस्त भूतों में केवल पृथक्-पृथक् व्यापारों को देखता है उस ज्ञान को राजसिक जान।" १८, २१। और "जो ज्ञान किसी एक क्रिया या गतानुगतिकता (रूढ़ि) में उसे ही सब कुछ मान कर हठ के साथ आसक्त होता है, उसके यथार्थ कारण और परिणाम को नहीं देखता, विश्व के और कर्म एवं उसके क्षेत्र तथा अवस्थाओं के यथार्थ स्वरूप को न देखने वाला और स्वल्प और संकीर्ण होता है वह ज्ञान तामसिक कहा गया है।" १८, २२।

साधारणतया हमारा ज्ञान बड़ा सीमित होता है वह आंशिक होता है तथा उसमें भेद का स्वरूप प्रबल होता है। हम समग्र भाव की जिज्ञासा ही कम करते हैं। परन्तु समूची प्रकृति के विषय में ज्ञान होना तथा समग्र सत्ता का ज्ञान होना बड़ा विशाल ज्ञान है तथा अत्यन्त उपयोगी है। और जिस ज्ञान में रूढ़ि भाव है उसमें तो सजगता की ही कमी होती है।

साधारण जीवन के विकास की मर्यादा यह है कि तमोगुण परिवर्तित हो रजोगुण में और रजोगुण परिवर्तित हो सत्वगुण में। प्रत्यक्ष ही सत्वगुण-प्रधान जीवन का स्वरूप बड़ा सुन्दर है। उसमें विशाल ज्ञान है, सहज सुख है तथा

सफल कर्तृत्व है। परन्तु सात्विक जीवन भी आदर्श नहीं। इसमें आत्मा का स्वातन्त्र्य नहीं। गीता कहती है : "सत्व गुण सुख में आसक्त करता है, रजोगुण कर्म में आसक्त करता है और तमोगुण ज्ञान को आवृत करता है और मूल, विपर्यय और अकर्मण्यता रूप में भी आसक्त करता है।" १४, ६। सत्वगुण भी सुख में आसक्त करता है। पूर्ण स्वातन्त्र्य का उपभोग मानव गुणातीत होकर ही प्राप्त करता है। तब वह आत्मा में स्थिर हो जाता है, परमात्मा से युक्त तथा प्रकृति का स्वामी। यह है गीता की आदर्श स्थिति, अमर जीवन की ओर दिव्य-कर्म की।

पुष्प ८

गीता की शिक्षा के विभिन्न स्वरूप, पुराने तथा नये

भारतीय संस्कृति और जीवन में अनवरतता का भाव कुछ विशेष है। इसमें नई प्रवृत्तियाँ प्रायः पुरानी प्रवृत्तियों के संशोधन तथा परिवर्द्धन रूप में उपस्थित होती रही है, विरोध भाव में कम। उपनिषद् वेदों का ही सार है, गीता उपनिषदों का ही निचोड़ है और शंकर, रामानुज आदि आचार्य अपने-अपने दर्शनों को वेद, उपनिषद् और गीता पर आधारित मानते हैं तथा इनके अर्थ अपने दर्शनों की दृष्टि से करते हैं। उनके दर्शन मौलिक हैं, एक भिन्न भाव और अनुभूति को लिए हुए हैं; परन्तु देश और संस्कृति की वृत्ति यह रही है कि अपनी मौलिकता को बढ़ा कर नई वस्तु नहीं कहा गया बल्कि उसे पूर्व प्रवाह का ही एक नया स्वरूप बतलाया गया तथा उसकी मूल प्रेरणा पूर्व प्रवाह में अनुभव की गई। इससे अनवरतता तथा एकत्व की भावना जरूर प्रदर्शित होती है। और यह जीवन का एक सुन्दर गंभीर तथ्य भी है।

गीता की शिक्षा के हम अनेक स्वरूप देखते हैं। गीता कोई प्रतीकात्मक या संकेतात्मक ग्रंथ नहीं। वेद और उपनिषदों में अनेक स्थलों पर साक्षात् अनुभव होता है कि वास्तविक अर्थ को प्रतीक तथा संकेत द्वारा कहने का यत्न किया जा रहा है। परन्तु गीता की भाषा सामान्य है और इसमें किन्हीं प्रच्छन्न अर्थों को ढूंढ़ने की आवश्यकता नहीं होती। गीता स्वयं अपनी बात को दुहरा-दुहरा कर स्पष्ट करती है तथा अपने आशय और भाव को स्पष्ट बल देकर भी कह देती

है, "यह बड़ी गुह्य बात है, यह गुह्य-से गुह्य है," आदि । फिर भी इसके अर्थ अनेक ही हुए हैं, और आज भी हो रहे हैं । इसका कारण मनोवैज्ञानिक है तथा ऐतिहासिक । व्यक्ति का अपना मनोभाव होता है तथा युग की अपनी मानसिकता होती है । इन्हें अतिक्रांत करना अत्यन्त कठिन होता है और फिर इन्हीं के अधीन हम गीता अथवा किसी भी ग्रंथ को पढ़ते तथा समझते हैं ।

गीता को शुरू से अंत तक दो-चार बार मूल शब्दार्थ सहित पढ़ कर व्यक्ति इसके आशय तथा युक्ति आदि को काफी कुछ ग्रहण कर लेता है । इसके ज्ञान, कर्म और भक्ति तीनों पर के बल को देख लेता है । इसके सांख्य योग और वेदांत के समन्वय भाव को भी अनुभव कर लेता है । कर्म सदा करना ही चाहिये । भगवान् स्वयं कर्मरत हैं, भगवान् के अवतार कर्म करते रहते हैं, मानव को आत्म-शुद्धि के लिये कर्म करना ही चाहिये तथा मुक्त पुरुष को उचित दृष्टांत प्रस्तुत करने के लिये कर्म-परायण रहना ही चाहिये आदि, आदि । कर्म पर यह सब बल स्पष्ट ही है ।

फिर भी यह सर्वथा संभव है कि व्यक्ति का ध्यान विशेष रूप से, उसकी आवश्यकता एवं रुचि के अनुसार, गीता के किसी एक अंग पर केन्द्रित हो उठे । तब स्वभावतया ही दूसरे अंग गौण लगने लगेंगे ।

इस मनोवैज्ञानिक तथ्य को ध्यान में रखते हुए हम गीता के विभिन्न स्वरूपों को देख-सुन कर व्यथित नहीं होंगे ।

गीता संभवतः ईसा पूर्व पाँचवीं शताब्दी में अपने वर्तमान लेखरूप में आई । इसकी शिक्षा अवश्य ही उससे काफी समय पहले प्रचलित होगी ।

पहला गीता भाष्य बहुत पीछे नवीं शताब्दी में शंकर आचार्य ने प्रस्तुत किया, अथवा इससे पहले का कोई भाष्य आज प्राप्त नहीं । उसके बाद ग्यारहवीं शताब्दी में रामानुज आचार्य ने एक दूसरा भाष्य लिखा । उसके बाद माधव, वल्लभ, निम्बार्क तीन और प्रसिद्ध आचार्यों ने भाष्य लिखे । इसके बाद फिर और भी अनेक ही भाष्य तथा टीकाएँ लिखी गईं ।

शंकर आचार्य का दार्शनिक विचार है अद्वैत वेदांत का। ब्रह्म सत्य है और जगत् मिथ्या है, तथा ब्रह्म निर्गुण, निर्वैयक्तिक सार्वभौम चेतन सत्ता है। यह जगत् माया का रचा हुआ है और माया न सत् है न असत्, वह अनिवर्चनीय है। ज्ञान द्वारा हमें माया-मोह को त्यागना चाहिये और शुद्ध ब्रह्म रूप, जो हम हैं, हो जाना चाहिये।

यही अर्थ उन्होंने गीता में पाये और प्रमाणित किये। कर्म करना अज्ञान की स्थिति के लिये ध्येय है, ज्ञान की अंतिम स्थिति तो सर्वथा निष्क्रिय है। भक्ति भी प्रारंभिक अवस्थाओं के लिये है।

शंकर का अद्वैत वेदांत भारतीय चिंतन तथा जीवन की बड़ी प्रभावशाली धारा रहा है। रामानुज आचार्य का दार्शनिक विचार विशिष्ट अद्वैत कहलाता है। यह भी अद्वैत है, अर्थात्, अंत में एक ही सत्ता को मानता है। परन्तु इतनी विशेषता और है कि नए तत्व और आत्माएँ भी सत्य हैं। अतः जगत् मिथ्या नहीं, सत्य है।

यह दर्शन भक्ति का विशेष पोषक है। अतः रामानुज अपने गीता भाष्य में भक्ति पर बहुत बल देते हैं। पीछे कुछ भाष्य ऐसे भी हुए जिन्होंने शंकर के दर्शन को स्वीकार किया, परन्तु फिर भी भक्ति पर बल दिया।

वर्तमान समय में गीता के विभिन्न स्वरूप और तरह के प्रकट हुए हैं। तिलक ने इसमें निष्काम कर्म (Duty for Duty's sake) के आदेश को विशेष देखा, गांधी जी ने अनासक्ति भाव को और श्री अरविन्द ने दिव्य कर्म की संभावना तथा उसके पथ को। तिलक ने विचार द्वारा अपनी दृष्टि पाई तथा उसे पोषित किया, गाँधी जी ने व्यावहारिक जीवन की कसौटी से फल-त्याग और अनासक्ति को मार्मिक पाया और श्री अरविंद ने इसकी साधना का अनुशीलन करके इसके समग्र भाव की सत्यता को अनुभव किया तथा श्रीकृष्ण के आध्यात्मिक स्वरूप का साक्षात परिचय पाया।

ये हैं गीता की शिक्षा के पुराने तथा नए कुछ-एक स्वरूप। व्यक्ति अपनी वर्तमान रुचि तथा प्रवृत्ति के अनुसार गीता को किसी रूप में भी लेकर चल सकता है। वह अपने आपको सीमित न करे और अनुभव में सहज विकास की जिज्ञासा करता चला जाए। वह अवश्य ही गीता को अधिकाधिक प्राप्त करता चला जाएगा।

पुष्प १०

आधुनिक जीवन और गीता

आधुनिक जीवन जगत भर में आज रजोगुण प्रधान है। यह वस्तुतः बड़ा शुभ है। हम चारों ओर चेष्टा प्रवृत्ति और संघर्ष देखते हैं, आलस्य और सुस्ती कम देखते हैं। परन्तु चेष्टा और प्रवृत्ति के अपने दुष्परिणाम होते हैं। चेष्टा और प्रवृत्ति आयास-प्रयास वाली होने से थकान पैदा करती है। बहुविध उद्देश्यों वाली होने से अनेक दुविधाओं को पैदा करती है। इसमें अनेक मानसिक विकार पैदा हो जाते हैं जो आजकल बढ़ते दिखाई दे रहे हैं। अमरीका जो चेष्टा में विशेष बढ़ा हुआ है मानसिक रोग से भी ज्यादा पीड़ित है।

उपाय रूप काम करने के दिन और घण्टे कम किये जा रहे हैं तथा मनोरंजन (entertainment) के साधन जुटाए जा रहे हैं तथा विश्राम (relaxation) के अभ्यास पर बल दिया जा रहा है। परन्तु दोष वस्तुतः काम के बाहुल्य का नहीं, दोष है काम करने में आयास-प्रयास में मनोभाव का। और इसका सम्बन्ध है व्यक्तित्व के अहंभाव के साथ। जितना अहंभाव ('मैं-पन' का भाव) अधिक होगा उतना ही आयास-प्रयास अधिक होगा, और वैसे ही चिन्ता भी अधिक होगी।

उपाय वस्तुतः है व्यक्तित्व के स्वरूप में परिवर्तन लाने का। यह अधिक विशाल बने, समता वाला बने तथा कुछ महत्तर शक्तियों का सम्पर्क प्राप्त करे। तब मनुष्य की काम करने की शक्ति कहीं बढ़ सकती है। तब उसे काम के दिन तथा घण्टे कम करने की आवश्यकता नहीं होगी। वह अधिकाधिक अनथक या सतत भाव में काम कर सकेगा।

जागतिक दृष्टि से वर्तमान समय संकट का समय कहा जाता है। इतिहास के लिये यह बड़ा विलक्षण समय है। इस समय सभी कुछ बड़ी उथल-पुथल की अवस्था में दीख पड़ता है। मनोजीवन के मापदण्ड कुछ हैं ही नहीं। वस्तुतः यह एक संक्रमण का समय है, जब कि पुराने मानदण्ड तो खण्डित से हो गए हैं और नए अभी प्रतिष्ठित नहीं हुए।

पश्चिम में इस समय ऐसे दर्शन भी प्रस्तुत हुए हैं जिन्होंने गम्भीर रूप में शंका की है कि जीवन में क्या कुछ अर्थ भी है ? जिस समय जीवन अर्थहीन लगने लगे वह समय अवश्य ही बड़ा कठिन बन जाता है।

ऐसे समय के लिए प्रतीत होता है कि गीता का संदेश विशेष उपयोगी है। गीता मानव के कर्तृत्व पक्ष का ही विशेष पोषण करती है। इसे मौलिक रूप में उपयोगी मानती है, उसी प्रकार जैसे सत्य और ज्ञान की जिज्ञासा मानी जाती है। फिर कुछ ही कर्मों को यह मान्यता नहीं देती। बल्कि सब कर्मों को स्वीकार करती है, अर्थात्, सामान्य जीवन के सभी कर्म जीवन की पूर्णतया तथा इसकी कृतकार्यता और तृप्ति के साधन बन सकते हैं। सामान्य कर्म का पोषण यहाँ तक कि गीता के अनुसार कोई भी व्यक्ति अपनी जीवन की स्थिति तथा प्राकृतिक योग्यता से प्राप्त अथवा प्राप्य कर्म द्वारा, अर्थात्, अपने नियत उचित कर्म द्वारा, अर्थात्, अपने सहज कर्म द्वारा उस कल्याण और आनन्द की स्थिति को प्राप्त कर सकता है जो अन्य कोई मानव किसी भी कर्म द्वारा प्राप्त कर सकता है।

कर्म प्रधान युग के लिये वस्तुतः यह संदेश अद्‌भुत है। आज लोग कहते हैं कि हमारे पास समय ही नहीं कि हम कुछ ध्यान में बैठ सकें, योग-साधना करें अथवा कुछ अच्छे ग्रन्थों का स्वाध्याय ही करें। गीता के अनुसार यह बिल्कुल भी आवश्यक नहीं। गीता ध्यान की मर्यादा बतलाती है, साधना के अनेक क्रमों का भी आदेश देती है, परन्तु वे अनिवार्य नहीं। कर्म अपने आप में सर्वथा पर्याप्त है जीवन के उत्थान के लिये तथा उसकी पूर्ण आध्यात्मिक सफलता के लिये।

परन्तु कर्म होना चाहिये उत्तरोत्तर एक नई चेतना वाला, नई भावना वाला, नए स्वरूप वाला। सामान्यतया मानव कर्म करता है स्वार्थ के लिये, लोभ-लालच में, फल की चिन्ता में ग्रस्त होकर, दूसरों के प्रति राग-द्वेष रखते हुए। यह सब कर्म कामना-मय हैं और अहं प्रेरित हैं। कर्म होना चाहिये विशाल समभाव में, विश्वस्त चेतना में, पूर्ण आत्म-निवेदन से, प्रेमपूर्वक, सर्वहित के लिये, समग्र सत्ता से युक्त होकर। कर्म की वर्तमान अपूर्ण अवस्था में से धीरे-धीरे विकसित होकर मानव इस पूर्ण अवस्था को कैसे प्राप्त कर सकता है, इसका क्रम-बद्ध ब्यौरा भी गीता प्रस्तुत करती है। और गीता वह भी खूब दर्शा देती है कि मानव-जीवन तथा जगत् का मिहित आश्रय और उद्देश्य भी यही विकास है। यह तथ्य श्रीकृष्ण अर्जुन को बार-बार अनेकविध समझा-समझा कर स्पष्ट करते हैं।

कैसा उपयुक्त है गीता का यह संदेश वर्तमान मानव के लिये।

फल में आसक्ति के त्याग से, तटस्थता और समता के अभ्यास से, आत्म-निवेदन की वृत्ति से, प्रकृति के व्यवहार की मर्यादा को धीरे जानते हुए, तथा समग्र सत्ता अथवा सर्वोपरि पुरुषोत्तम की भावना को विकसित करते हुए मानव कर्मों को और ही प्रकार से करने लगेगा। आयास-प्रयास कम होने लगेगा, चिन्ता कम होने लगेगी, थकान भी कम होने लगेगी, कर्मों में एकाग्रता बढेगी, उनमें सच्ची कुशलता उपलब्ध होगी तथा जीवन में अद्भुत सरलता; सरजता तथा सफलता अनुभव होने लगेगी।

प्रत्यक्ष ही इस मनोभाव के विकास से कर्तृत्व-शक्ति खूब बढ़ेगी। मानसिक विकारों के स्थान पर मानसिक स्वास्थ्य की वृद्धि होगी और जीवन में सार्थक तथा निश्चय भाव उपलब्ध होंगे। गीता के पथ-प्रदर्शन को व्यक्ति अनुभव में परख कर देखे। तभी वह उसे विश्वस्त रूप में प्राप्त कर सकेगा।

पुष्प ११

श्री अरविन्द के कुछेक अपने शब्द

गीता नीतिशास्त्र या आचारशास्त्र का ग्रंथ नहीं है, बल्कि आध्यात्मिक जीवन का ग्रंथ है।.........वास्तव में यह ग्रंथ मूलतः एक योगशास्त्र है और जिस योग का यह उपदेश करता है उसकी इसमें व्यावहारिक पद्धति बताई गयी है, और जो तात्विक विचार इसमें आये हैं वे इसके योग की व्यावहारिक व्याख्या करने के लिए ही लिए गये हैं।.........इसमें ज्ञान और भक्ति की भावना को कर्म की नींव पर खड़ा किया गया है और कर्म को भी कर्म की जो परिसमाप्ति है उस ज्ञान में ऊपर उठा कर रखा गया है तथा कर्म का पोषण उस भक्ति द्वारा किया गया है जो कर्म का प्राण है और जहाँ से कर्म उद्भूत होते हैं।

× × ×

हम इसके पास साहाय्य और प्रकाश पाने के लिए आते हैं और इसलिए इसमें हमारा हेतु यही होना चाहिए कि हमें इसमें से इसका सच्चा अभिप्राय और जीता-जागता संदेश मिले, वह असली चीज मिले जिसे मनुष्य जाति अपनी पूर्णता का और अपनी उच्चतम आध्यात्मिक भवितव्यता का आधार बना सके।

× × ×

गीता को सर्वसाधारण अध्यात्मशास्त्र या नीतिशास्त्र का एक ग्रंथ मान लेने से ही काम न चलेगा बल्कि नीतिशास्त्र और अध्यात्मशास्त्र का मानव जीवन में प्रत्यक्ष प्रयोग करते हुए ही व्यवहार में जो संकट उपस्थित होता है उसे दृष्टि के सामने रखकर इस ग्रंथ का विचार करना होगा।

× × ×

गीता में सचमुच तीन बातें ऐसी हैं जो आध्यात्मिक दृष्टि से बड़े महत्व की हैं, प्राय: प्रतीकात्मक हैं और उनसे आध्यात्मिक जीवन और मानव अस्तित्व के मूल में जो बहुत गहरे संबंध और समस्यायें हैं वे प्रत्यक्ष होती हैं। वे तीन बातें हैं—श्री गुरु का भागवत व्यक्तित्व, उनका अपने शिष्य के साथ विशिष्ट प्रकार का संबंध और उनके उपदेश का प्रसंग।

श्री गुरु स्वयं भगवान हैं जो मानव जाति में अवतरित हुए हैं; शिष्य अपने काल का श्रेष्ठ व्यक्ति है जिसे हम आधुनिक भाषा में मनुष्य जाति का प्रतिनिधि कह सकते हैं, और जो इस अवतार का अंतरंग सखा और चुना हुआ यंत्र है। वह एक विशाल कार्य और संग्राम में प्रमुख पात्र है, जिसका रहस्यमय उद्देश्य उस रंगभूमि के पात्रों को ज्ञात नहीं, ज्ञात है केवल उन मनुष्य-शरीरधारी भगवान को जो अपने ज्ञानमय अथाह मानस के पीछे छिपे हुए यह सारा कार्य चला रहे हैं। और प्रसंग है इस कार्य और संग्राम में उपस्थित अति विकट भीषण परिस्थिति की वह घड़ी जिसमें इसकी बाह्य गति का आतंक और धर्म संकट तथा अंध प्रचंडता इस आदर्श व्यक्ति के मानस पर प्रत्यक्ष. होकर इसे सिर से पैर तक हिला देती है और वह सोचने लगता है कि आखिर इसका अभिप्राय क्या है, जगदीश्वर का इस जगत से आशय क्या है, इसका लक्ष्य क्या है, यह किधर जा रहा है और मानव-जीवन और कर्म का मतलब क्या है।

× × ×

मनुष्य के अंदर जो भगवान हैं, वही नर में नारायण का सनातन अवतार हैं; और नर में जो अभिव्यक्ति है वही वहिजगत में उनका चिन्ह और विकास है।

× × ×

जिन कृष्ण का हमारे लिए महत्व है वे भगवान के शाश्वत अवतार हैं, कोई ऐतिहासिक गुरु या मनुष्य के नेता नहीं।

गीतोपदेश के सारतत्व को ग्रहण करने के लिए हमें महाभारत के उन मानव-रूप भगवान श्री कृष्ण के केवल आध्यात्मिक मर्म के साथ ही मतलब रखना चाहिए जो इस कुरुक्षेत्र की संग्राम-भूमि में हमारे सामने अर्जुन के गुरु-रूप में अवस्थित हैं।

× × ×

गीता मानव-रूप में भगवान के अवतार लेने के सिद्धान्त को मानती है; क्योंकि भगवान गीता में मानव-रूप में बारंबार युग-युग में प्रकट होने की बात कही है।

गीता में भगवान के·······परात्पर, विराट् और आंतरिक रूप पर जोर दिया गया है, वे जो समस्त वस्तुओं के उद्‌गम हैं, सबके स्वामी हैं और मनुष्य के हृदय में वास करते हैं।

× × ×

इस जगत में हम लोगों के द्वारा जो संपूर्ण कर्म कराया जाता है वह हम लोगों के अहंकार और अज्ञान के रास्ते से ही कराया जाता है और हम लोग यह समझते हैं कि हम ही अपने सब कर्मों के कर्त्ता हैं, और इनका जो कुछ फल होता है उसके हम ही असली कारण हैं। ऐसा समझ कर हम अपने आप पर गर्व करते हैं, पर यथार्थ में जो चीज हमसे यह सब कराती है वह कुछ और ही है।

× × ×

भगवान श्रीकृष्ण मानव-जीवन के समस्त विशाल कर्म के अन्दर क्रियाशील हैं, केवल उसके आभ्यांतर जीवन में ही नहीं, बल्कि जगत के सारे अज्ञान-अंधकारमय क्रम के अन्दर भी, जिसका निर्णय हम अपनी बुद्धि के उतने से टिमटिमाते हुए प्रकाश से करते हैं जितना हमारी अनिश्चित अग्रगति के आगे छोटे-से दायरे को अस्पष्ट रूप से दिखाता है।

गीता के उपदेष्टा गुरु केवल मनुष्य के वे अन्तर्यामी ईश्वर ही नहीं हैं जो केवल ज्ञान के वक्ता के रूप में ही प्रकट होते हों, बल्कि मनुष्य के अंतर्यामी ईश्वर हैं जो सारे कर्म-जगत् के संचालक हैं, जिनसे और जिनके लिए समस्त मानव-जीवन यात्रा कर रहा है। वे सब कर्मों और यज्ञों के छिपे हुए स्वामी हैं और सबके सुहृद हैं।

× × ×

अर्जुन संघर्ष में पड़ी हुई उस मानव-आत्मा का नमूना है जिसे अभी तक ज्ञान प्राप्त नहीं हुआ है, पर जो मानव-जाति में विद्यमान उन श्रेष्ठतर तथा भागवत आत्मा के उत्तरोत्तर अधिकाधिक समीप में रहने तथा उनके अंतरंग सखा होने के कारण इस ज्ञान को कर्म-जगत में प्राप्त करने का अधिकारी हो गया है।

× × ×

भगवान चाहते हैं कि अर्जुन सब धर्मों का त्याग करदे तथा उसका एक ही वृहत् और विशाल धर्म हो और वह हो भगवान में सचेतन होकर निवास करना तथा उसी चेतना से युक्त होकर कर्म करना।

× + ×

कर्म तो करना ही होगा, जगत् को अपने कालचक्र पूरे करने ही होंगे और मनुष्य की आत्मा को उस नियत कर्म की ओर से अज्ञानवश अपनी पीठ नहीं मोड़नी चाहिए जिसके लिए वह यहाँ आयी है। गीता की शिक्षा का संपूर्ण क्रम, उसकी व्यापक से व्यापक परिक्रमा में भी, इन्हीं तीन उद्देश्यों की पूर्ति के निमित्त है और उधर ही ले जाने वाला है।

× × ×

गीता जिस कर्म का प्रतिपादन करती है वह मानव कर्म नहीं बल्कि दिव्य कर्म है, सामाजिक कर्त्तव्यों का पालन नहीं बल्कि कर्त्तव्य और आचरण के अन्य

सब पैमानों को त्याग कर अपने स्वभाव के द्वारा कर्म करने वाले भागवत संकल्प का निरहंकार निर्मम आचरण है, समाज-सेवा नहीं बल्कि श्रेष्ठ, भगवत्-अधिकृत महापुरुषों का कर्म है जो नाहंकृत भाव से संसार के लिए उन भगवान की प्रीति-पूजा के तौर पर यज्ञ-रूप से किया जाता है जो मनुष्य और प्रकृति के पीछे सदा विद्यमान है।

× × ×

गीता नीतिशास्त्र या आचारशास्त्र का ग्रंथ नहीं है, बल्कि आध्यात्मिक जीवन का ग्रंथ है।

× × ×

गीता निःस्वार्थ कर्त्तव्य-पालन की शिक्षा नहीं देती, बल्कि दिव्य जीवन बिताने की शिक्षा देती है, सब धर्मों का परित्याग सिखाती है **सर्व धर्मान् परित्यज्य**, एक परमात्मा का ही आश्रय ग्रहण करने को कहती है।

× × ×

गीता कर्म को अकर्म से श्रेष्ठ बतलाते हुए भी कर्म-संन्यास का निषेध नहीं करती, बल्कि इसे भी भगवत्प्राप्ति के साधनों में से एक साधन स्वीकार करती है।

× × ×

निश्चय ही गीता में, उपनिषदों की तरह उस समता का उपदेश है जो पुण्य और पाप से ऊपर, अच्छे और बुरे के परे है, पर वह समता केवल ब्राह्मी चेतना का एक अंग है और उसका उपदेश उसी के लिए है जो उस मार्ग पर हो और उस परम धर्म को चरितार्थ करने के लिए काफी आगे बढ़ चुका हो।

× × ×

जीवन के लिए तो गीता का निर्देश है कि बुरे कर्म करने वाले कभी ईश्वर को नहीं पा सकते।

गीता की समता एक आंतरिक संतुलन और विशालता की स्थिति है, जो आध्यात्मिक मुक्ति की आधारशिला है।

× × ×

मन हृदय और बुद्धि के साथ भगवत्-चैतन्य में प्रवेश करने और उसमें रहने के लिए बुद्धि की समता और फल का व्याग केवल साधन है और गीता ने इस बात को स्पष्ट रूप से कहा है कि इनसे तब तक काम लेना होगा जब तक साधक इस योग्य नहीं हो जाता कि वह इस भगवच्चैतन्य में रह सके या कम से कम अभ्यास के द्वारा इस उच्चतर अवस्था को अपने में क्रमशः विकसित न कर ले।

× × ×

गीता का प्रतिपादन अपने आपको तीन सोपानों में बाँट लेता है जिन पर चढ़कर कर्म मानव-स्तर से ऊपर उठकर दिव्य स्तर में पहुँच जाता है और वह उच्चतर धर्म की मुक्तावस्था के लिए नीचे के धर्म बंधनों को नीचे ही छोड़ जाता है।

× × ×

पहले सोपान में मनुष्य कामना का त्याग कर पूर्ण समता के साथ अपने को कर्त्ता समझता हुआ यज्ञ-रूप से कर्म करेगा, यह यज्ञ उन भगवान के लिए करेगा जो परम हैं और एक मात्र आत्मा हैं, यद्यपि अभी तक उसने इनको स्वयं अपनी सत्ता में अनुभव नहीं किया है। यह आरंभिक सोपान है।

× × ×

दूसरा सोपान है केवल फलेच्छा का त्याग नहीं, बल्कि कर्त्ता होने के भाव का भी त्याग और यह अनुभूति कि आत्मा सम, अकर्त्ता और अक्षर तत्व है और सब कर्म विश्व-शक्ति के प्रकृति के हैं जो विषम, कर्त्री और क्षर शक्ति है।

अंतिम सोपान है परम आत्मा को वह परम पुरुष जान लेना जो प्रकृति के नियामक हैं, प्रकृतिगत जीव उन्हीं की आंशिक अभिव्यक्ति हैं, वे ही अपनी पूर्ण परात्पर स्थिति में रहते हुए प्रकृति के द्वारा सारे कर्म कराते हैं।

× × ×

प्रथम सोपान है कर्मयोग, भगवत्प्रीति के लिए निष्काम कर्मों का यज्ञ, और यहाँ गीता का जोर कर्म पर है। द्वितीय सोपान है ज्ञानयोग, आत्म-उपलब्धि, आत्मा और जगत् के स्वरूप का ज्ञान; यहाँ उसका ज्ञान पर जोर है, पर साथ-साथ निष्काम कर्म भी चलता रहता है, वहाँ कर्म मार्ग, ज्ञान-मार्ग के साथ एक हो जाता है पर उसमें घुल-मिलकर अपना अस्तित्व नहीं खोता। तृतीय सोपान है भक्ति योग, परमात्मा की भगवान के रूप में उपासना और खोज; यहाँ भक्ति पर जोर है, पर ज्ञान भी गौण नहीं है, यहाँ केवल ज्ञान उन्नत होता है, उसमें एक जान आ जाती है और वह कृतार्थ हो जाता है और फिर भी कर्मों का यज्ञ जारी रहता है; द्विविध मार्ग यहाँ ज्ञान, कर्म और भक्ति का त्रिविध मार्ग हो जाता है।

× × ×

गीता ने उदार हिन्दू धर्म के सारभाव का ही अनुसरण करके इस काल-रूप को भी भगवान कहा है, गीता जगत की पहेली को टालने के लिए जगत में से किसी बगल के दरवाजे से निकल भागने की चेष्टा नहीं करती।

× × ×

एक दिन आ सकता है, बल्कि हम कहेंगे कि निश्चय ही आयेगा, जब मनुष्य-जाति आध्यात्मिक, नैतिक और सामाजिक रूप से इस बात के लिए

तैयार होगी कि सर्वत्र शांति का राज्य हो; लेकिन तब तक किसी व्यावहारिक तत्व ज्ञान और धर्मशास्त्र को यह मानकर चलना होगा कि युद्ध जीवन का अंग है और लड़ना मनुष्य का स्वभाव और कर्म है और मनुष्य के योद्धा-रूप के स्वभाव और कर्तव्य को मानकर उसका लेखा-जोखा करना होगा ।

(सभी उदाहरण 'गीता प्रबन्ध' से)

——

पुष्प १२

गीता-साहित्य

गीता जगत् भर में खूब प्रसिद्ध धर्म ग्रन्थ है और इसके अनुवाद संसार की सभी प्रधान भाषाओं में विद्यमान है। बल्कि व्याख्या रूप साहित्य भी प्रमुख भाषाओं में अच्छा विस्तृत है। भारत की सभी भाषाओं में तो गीता एक परम्परा ही है। भारतीय चेतना में इसकी शिक्षा विभिन्न अङ्गों तथा रूपों में तथा श्रीकृष्ण का स्वरूप तो गहरे गड़े हुए हैं।

यहाँ हम विशेष रूप से हिन्दी और अंग्रेजी अनुवादों तथा व्याख्या रूप ग्रन्थों की एक संक्षिप्त सूची देते हैं।

हिन्दी

अनुवाद

(१) श्रीमदभगवत्गीता, गीताप्रेस गोरखपुर।

गीता प्रेस, गोरखपुर ने गीता के कई संस्करण निकाले हैं, छोटे बड़े, परिच्छेद, अन्वय, अनुवाद व्याख्या सहित अथवा इनके बिना।

(१) गीता प्रदीप (अनुवाद श्री अरविन्द का) हिन्दी रूपान्तर केशवदेव आचार्य का, दिव्य-जीवन प्रकाशन पाडीचेरी—२

(इसी लेखक ने 'गीता विज्ञान' भी लिखी है जिसमें परिच्छेद, अन्वय, अनुवाद और संक्षिप्त व्याख्या है।)

(३) अनासक्ति योग, मोहनदास कर्मचन्द गांधी, सस्ता साहित्य मण्डल, नई देहली (श्रीमद्भगवद् गीता, श्लोक, अर्थ, टिप्पणी सहित)।

(४) श्री हरिगीता दीना नाथ दिनेश मानव धर्म कार्यालय, दरियागंज दिल्ली—६। यह गीता का पद्यानुवाद है।

व्याख्या रूप ग्रन्थ

(१) गीता रहस्य, बाल गंगाधर तिलक, सस्ता साहित्य मंडल, नई देहली।

(२) गीता प्रबन्ध, श्री अरविन्द, श्री अरविन्द आश्रम, पांडीचेरी—२

(३) भगवद्गीता, सर्वपल्ली राधाकृष्णन् ,सस्ता साहित्य मडल, नई देहली।

(४) गीता-प्रवचन, विनोबा, सस्ता साहित्य मंडल, नई देहली।

(५) भगवद्गीता, राजगोपालाचारी सस्ता साहित्य मण्डल, नई देहली।

अंग्रेजी

अनुवाद

1. The Gita (Translations and brief of commentary of Sri Aurobindo) compiled by Anil Baran, Sri Aurobindo Ashram, Pondicherry.
2. The song celestial, by Edwin Arnold, Kitabistan, Allahabad. (A remuing verse translation of the Gita.)
3. Song of God, Swami Prabhawanand and Christopher Isherwood Rama Krishna Math, Madras.

व्याख्या रूप ग्रन्थ

1. Gita Rahasya. B. G. Tilak.

2. Essays on the Gita, Sri Aurobindo, Sri Aurobindo Ashram Pondicchery-2
3. The Bhagavadgita, S. Kadhakrishnan, George Allen and Un. London.
4. Bhagvad-Gita, C. Raj Gopalachari, Bhartiya Vidya Bhawan Bombay.
5. The Arts of life in the Bhagavadgita, H. V. Divatia. Bhartiya Vidya Bhawan, Bombay.
6. Bhagavadgita as a philosphy of God-realisat:on, R. D. Ranade. Bhartiya Vidya Bhawan, Bombay.

परिशिष्ट

गीता की निजी मौलिक अनुभूति और प्रेरण तथा इसकी अन्य अनुभूतियां और दृष्टियां

१. पुरुषोत्तम (ईश्वर, भगवान्) परम सत्ता है, वही अपनी पराप्रकृति (दैवी उच्च प्रकृति) द्वारा इस जगत् की सृष्टि करते हैं। उन्हीं की यह अभिव्यक्ति है। यह जगत् एक पुरुषोत्तमय है। सत्व, रज और तम की निम्न प्रकृति अहंमय है तथा पुरुषोत्तम भाव से वियुक्त है तथा सुखदु:खादि द्वन्द्वों से पीड़ित है। अहं का त्याग करना और पुरुषोत्तम भाव को उपलब्ध करना जीवन की कृतकार्यता है। पुरुषोत्तम भाव में निवास तथा उस भाव से कर्म करना गीता का संदेश तथा इसकी मौलिक प्रेरणा है। यही गीता की मौलिक अनुभूति है।

२. इसके लिये गीता एक साधना का क्रम भी प्रस्तुत करती है तथा स्वभाव और अवस्था भेद से अनेक स्वधर्मों का आदेश देती है। अन्तिम उद्देश्य निश्चित है परन्तु यहाँ व्यक्ति पहुँचता धीरे-धीरे तथा अनेक अवस्थाओं में से गुज़र कर है।

सामान्य मानव इन्द्रिय-भाव में निवास करता है और इन्द्रिय विषयों में लिप्त होकर उन्हें ही सब कुछ मान कर जीवन-यापन करता है। उसे निवास करना है आत्मा और परमात्मा में। इसके लिये वह इन्द्रिय विषयों के प्रति वैराग्यभाव पैदा करता है। यह तुच्छ है तथा सन्तोष देने में असमर्थ है, यह

भावना दृढ़ करता है तथा अमर आत्मा, शाश्वत शान्ति और परम भगवान् की भावना ज्ञान भक्ति और कर्म के निरन्तर अभ्यास के द्वारा दृढ़ करता जाता है। इन्द्रियो को पहले तितिक्षा (सुख-दुःख विषयक सहनशीलता) द्वारा वह कुछ संयम में लाता है और फिर बाह्य स्पर्शों के संबंध में सहज समत्व उपलब्ध करता है। युक्त आहार विहार से (व्यक्ति के लिए जो आहार-विहार ठीक हो, जो उसके शरीर और मन को समर्थ और सशक्त अवस्था में रखे) सहज सुख को प्राप्त करता है तथा सहज रूप से बिना उकताएँ योग में रत रहता है। मन की विच्छृंखलता और उच्छृंखलता को परिश्रमपूर्वक सम और शान्त अवस्था में लाता है। जब-जब जहाँ-जहाँ मन जाता है उसे वापिस लाकर एकाग्र-भाव में प्रतिष्ठित करता है तथा आत्मा की जिज्ञासा करता है और उसका प्रेमपूर्वक स्मरण और चिन्तन करता है। अपने सब कर्मों को यज्ञरूप भगवदर्पण भाव में ढालने लगता है। अपना खाना-पीना, सोना-जागना, लेना-देना सबके सब भगवद् भाव में करने लगता है, भगवान् के लिये उनकी इच्छा के अनुसार करने लगता है।

अन्त में भगवान् के साथ तादात्म्य लाभ करता है और भगवद् इच्छा के अनुसार सर्वहित और लोकसंग्रह के लिए कर्म करता है। यह उसकी ब्राह्मी स्थिति तथा दिव्य-जीवन की स्थिति होती है जिसमें मानव जीवन के सभी प्रश्नों का हार्दिक समाधान हो जाता है।

३. गीता के अन्य अनुभूतियाँ भी अपनी-अपनी जगह बड़ी सुन्दर हैं :—

(क) कपिल मुनि (सांख्य-शास्त्र) की अनुभूति यह है कि पुरुष (आत्मा) प्रकृति से भिन्न है। सब विकार अथवा परिवर्तन प्रकृति में है, पुरुष चेतन, शान्त, आनन्दमय तथा निष्क्रिय है। पुरुष अपने आपको प्रकृति के क्रिया-कलाप से अलग कर लें, और अपने आप में प्रतिष्ठित हो जाये, यही मोक्ष है।

(ख) संन्यास-मार्ग—वैदिक संन्यास नहीं अपितु पीछे की संन्यास परम्परा कर्म मात्र को बन्धन मानती है और उन्हें त्याज्य बना देती है। इसके आधार

सामान्य अनुभव का है, जिसके अनुसार कर्म सदा अहंमयी इच्छा तथा लिप्तता और व्यग्रता आदि दोषों से युक्त होता है। संन्यास मार्ग की अनुभूति यह है कि कर्म का स्वरूप ही यही है। अतः शान्ति प्राप्त करने के लिये इसका त्याग आवश्यक है।

(ग) योग मार्ग की परम्परा की अनुभूति दूसरी है। वह यह कि कर्म युक्त-भाव में (भगवान् से युक्त होकर तथा आत्मा में स्थित होकर) किया जाये तो वह मुक्त कर्म होता है और वह बन्धन नहीं करता।

(घ) गीता की अपनी अनुभूति सांख्य (अथवा संन्यास मार्ग) और योग की अनुभूतियों को समन्वित कर देती है। यह इच्छा का त्याग करती है जो योग-मार्ग के लिये भी आवश्यक है। इस प्रकार कर्म करने वाला संन्यासी है और संन्यासमार्ग के लिए मुख्य वस्तु कर्म का त्याग न रहकर इच्छा का त्याग हो जाता है।

सांख्य की अहंमयी प्रकृति की जगह गीता पराप्रकृति स्थापित करती है। यह स्वभाव में दैवी है और आत्मा-परमात्मा के लिये उपयुक्त साधन है। इसमें प्रकृति का नितान्त त्याग आवश्यक नहीं रहता बल्कि उद्देश्य यह होता है कि व्यक्ति निम्न आसुरी प्रकृति के स्थान में देवी प्रकृति उपलब्ध करे।

(ङ) 'गुणा गुणेषु वर्तन्ते' यह मूलतः सांख्य की अनुभूति है, परन्तु गीता इसे इस भाव में अंगीकार करती है कि जब तक मन का निम्न प्रकृति में निवास रहता है तब तक वही उसका स्वभाव होता है और वह उसी में बँधा होता है। परन्तु सांख्य तो निम्न प्रकृति को स्वतन्त्र सत्ता अनुभव करता है। गीता इसे परा-प्रकृति और पुरुषोत्तम के अधीन एक तत्व मानती है तथा गुणों की अपेक्षा गुणातीत सत्ता को प्रधानता देती है।

(च) निम्न प्रकृति सत्व, रज और तम तीन गुणों का पारस्परिक क्रिया प्रतिक्रिया रूप द्वन्द्वात्मक संघर्ष है। इस प्रकृति के सभी तत्व, ज्ञान, श्रद्धा, तप, भोजन आदि तीन प्रकार के सात्विक, राजसिक, तामसिक होते हैं। गीता की ये दृष्टियाँ भी बड़ी सुन्दर हैं।

(छ) स्वभाव और स्वधर्म एक और बड़ी महत्वपूर्ण दृष्टि है। व्यक्ति का निज-कर्म उसके स्वभाव पर निर्भर करना चाहिये। स्वभाव से भिन्न अपने सामर्थ्य और शक्ति से भिन्न भला कैसे कोई कर्म कर सकता है। स्वभाव के अनुरूप कर्म ही उसके विपरीत किसी का लादा हुआ कोई कर्म कभी सफल नहीं हो सकता। स्वभाव विकास का साधन बन सकता है। परन्तु किसी के स्वभाव में अनेक तत्व मिश्रित होते हैं। उनमें उच्चतर तत्वों का ही आश्रय लेकर व्यक्ति को अग्रसर होना होगा। निम्नतर तत्वों को अपने कर्म का पथ-प्रदर्शक नहीं मानना होगा।

४. इस प्रकार गीता कर्म और अकर्म, सांख्य, योग और वेदान्त, तथा ज्ञान, भक्ति और कर्म में अद्भुत समन्वय प्रस्तुत करती है और मानव को पूर्ण-तया निश्चयात्मक तथा परम रूप में सार्थक कर्म का मार्ग दिखाती है। पूरे भगवद्भाव का आश्वासन देती है और उस स्थिति को प्राप्त करने के लिये एक अद्भुत साधना का प्रतिपादन करती है। जीवन के सभी कर्मों को यज्ञरूप बना देती है और उनमें भक्ति और ज्ञान को प्रतिष्ठित कर देती है। साधना को प्रधानतः मनोवैज्ञानिक रूप दे देती है जिससे वह वृत्तियों का संशोधन हो जाती है और सबके लिए सब अवस्थाओं में सम्भव बन जाती है।

——

मुद्रक : ए०के० कम्पोजिंग हाउस, प्रयाग